सभ्यता की देन

लेखक

श्री लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी

प्रकाशक

गौतम बुक डिपो, दिल्ली

प्रकाशक

गौतम बुक डिपो

नई सड़क, दिल्ली

१९५०

मूल्य डेढ़ रुपया।

मुद्रक

रामाधार

नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली।

आलोचक की दृष्टि

---:o:---

मैं वाजपेयी जी से अनेक वर्षों से परिचित हूँ। वे कहानियों के द्वारा साहित्य की सेवा कर रहे हैं। उनके कई संग्रह साहित्यिकों के हाथों में पहुँच चुके हैं। वाजपेयी जी ने अनुग्रह करके 'सभ्यता की देन' संग्रह विशेष रूप से पढ़ने का मुझे अवसर दिया। एतदर्थ मैं वाजपेयी जी का कृतज्ञ हूँ।

साहित्य का देवता ऐसा नहीं है, जो थोड़े से ही सन्तुष्ट हो। इसके लिए तो सततः अराधना की अपेक्षा है। और वाजपेयी जी उन लोगों में नहीं हैं, साहित्य जिनका व्यवसाय होता है। अपने व्यस्त जीवन के कुछ क्षणों को निकाल कर साहित्य के चरणों पर अपनी पुष्पाञ्जली समर्पित करते रहते हैं। ऐसे लोगों की संख्या अन्य प्रान्तों में तो बहुत है। पर अपने प्रान्त में ऐसे लोग विरल हैं। उनकी कहानी कला का क्रमशः विकास हुआ है। उस क्रमिक विकास को पाठक स्पष्ट लक्षित कर सकते हैं। इस विकास क्रम को देखकर पूर्ण विश्वास होता है, कि वे निकट भविष्य में ही बहुत ऊंची कोटि के कलाकारों की श्रेणी में अवश्य होंगे। इस समय में भी उनकी कला उस स्थान तक निश्चय पहुंच गई है, जहाँ से वे साहित्य अनुरागियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकें। आपकी कहानियों में जीवन की

विविधता है तथा जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के प्रति गहरा अनुराग। ऐसा लगता है, वे जिधर भी दृष्टि डालते हैं उधर ही उन्हें कहानी के लिए वस्तु मिल जाती है। ऐसा तभी सम्भव होता है, जब कलाकार जीवन के वास्तविक पक्ष पर सजग दृष्टि रखने में सक्षम होता है। वाजपेयी जी को इस प्रकार की जागरूक निरीक्षण शक्ति प्राप्त है। इनकी अभिव्यञ्जना भी अपनी अनेक विशेषताओं के कारण अपनी ओर ध्यान आकर्षित करती है। इनकी भाषा में न कृत्रिमता है, न मिथ्या पांडित्य प्रदर्शन। भाषा अपने लोक प्रचलित रूप को लेकर सामने आती है। ये शब्द विदेशी हैं, ये स्वदेशी हैं, ऐसे संकुचित पचड़ों में ये नहीं पड़ते। इनकी रचनाओं में भाषा का सहज, सुन्दर, सरस रूप दृष्टिगोचर होता है। महावरे, प्रवाह, तथा सजीवता के साथ, प्रसङ्गानुसार, स्वयं आते रहते हैं। वाजपेयी जी की इन विशेषताओं की ओर साहित्य मर्मज्ञों को एक दिन अवश्य ही गम्भीरता से देखना होगा।

मैं आशा करता हूं, समय मिलने पर, मैं वाजपेयी जी की सब रचनाओं का अध्ययन करूंगा तथा पाठकों के सम्मुख अपने विचारों को विस्तृत रूप से उपस्थित कर प्रसन्नता का अनुभव करूंगा।

भाद्रपद शुक्ल १२
सं० १९०७

कृष्ण शङ्कर शुक्ल

सूची



: १ :

सभ्यता की देन

उफ़! हृदय दहल उठता है। दिल काँप जाता है। रोंगटे खड़े हो जाते हैं और सम्पूर्ण शरीर साइबेरिया प्रान्त की ठंडकभरी चुभनेवाली हवा के झोंके से, दाँतों को किटकिटा देनेवाली सिहरन से कम्पित हो उठता है। घटनाओं की एक रील अत्यन्त तेज़ी से घूम जाती है जैसे निमेष मात्र में बिजली कौंधकर लुप्त हो जाती है।

मेरी आँखें उस अतीत पर टिकी हैं; क्या खोजती हैं, अपने में कौनसा सुख, कौनसा पुण्य भर लेना चाहती हैं; यह भी मैं नहीं जानता। पर, ऐसा भी कुछ है, जो कुछ अज्ञान में—नहीं जानते हुए—घट जाता है, उसे मैं संयोग की बात कहूँ या भवितव्यता कहूँ, नहीं जानता।

बी० ए० कर निकला। स्वप्नों का भव्य दुर्ग आसमान को चूमने पर तुला था। यौवन हिलोरें लेता महानता की चोटी पर चढ़ने के लिए उतावला था। संसार के दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। आशा भरी मुस्करा-हट से चारों तरफ दृष्टि डाली। एक महाभयंकर मरुस्थल दिखा, जिसपर नर-नारी की जीवित लाशें पड़ी थीं। लोग संघर्षों से पस्त हो, रोते नज़र आये थे। मैं भी अकेला उन्हीं में सम्मिलित हो जाने के लिए विवश था।

विवशता भी कितनी अन्धी होती है? उसकी विवेक से कभी निभी नहीं।

'नहीं।'

'कहाँ गये थे ?'

'सेक्रेटेरियट।'

'हूँऊँ।' कहकर उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ा और एक क्षण कुछ सोचने के पश्चात् बोला, 'नौकरी ही करने का इरादा है या कुछ और भी ?'

'पैसे चाहिये जीविकोपार्जन के लिए, बस।'

'अच्छा तो ठीक है। तुम मेरे बाल-सखा हो, गहरे मित्र भी। मेरी तुम्हारी पट भी सकती है। जिस प्रकार मैं रहता हूँ, उससे भी अच्छे ढंग से मैं तुम्हें रखने की चेष्टा करूँगा। तुम्हें दुगुनी-चौगुनी तनख्वाह दूंगा, उतनी जितनी कि तुमने कभी कल्पना न की होगी।''

मैं संदिग्धावस्था में था कि क्या यह सच है, या...?

फिर मैंने सोचा कि इसके बिना किसी भी योग्य तो मैं नहीं। सब बातों में मैं इससे फिसड्डी हूँ ; लेकिन यह अकारण ही इस अकिञ्चन पर इतनी कृपा कैसी ? कलियुग में यह उदारता कैसी ? मानव के रूप में यह महामानव कैसा ? मैं इस स्थिति में और भी ज्यादा परेशान था। पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक परेशान हो उठा।

वह बोला—'बस मेरे साथ रहो। जीवन का आनन्द लो, पैसे लो, ऐश्वर्य भी लूटो। चोरी-चमारी से दूर रहो, कंलक के निकट न जाओ। चलो, मेरे साथ चलो।'

मैंने 'बहुत ठीक' कह दिया।

वह बहुत प्रसन्न हुआ।

× × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल वह मुझसे बोला—'तुम्हें 'मैनर्स' में दक्ष होना चाहिए—खूब। जीवन की सफलता का यह मूल रहस्य है।'

मैंने कहा—'चेष्टा करूँगा।'

'मैं 'परफेक्ट मैन' बना दूंगा। बस जैसा मैं कहूँ, वैसा करते चलो।

एक बात जो एक बार कहूँ, समझाऊँ, उसे याद रखने की चेष्टा करना, भूलना नहीं। कैसे सभ्य समाज में बैठा जाता है, उठा जाता है, भोजन किया जाता है, तकरीर की जाती है, उसे पहिले तुम्हें समझना है। क्योंकि मैं ऊँचे समाज में बैठने का आदि हो गया हूँ।' सब कुछ मैं सुनता रहा। चायपत्ती ली और फिर कार फाटक पर आ लगी और हम लोग घूमने चल पड़े। मैं उसके भाग्य को सराह रहा था और अपने अन्दर ईर्ष्या भी उत्पन्न कर रहा था। मैं उसके कारोबार, चाल-ढाल को विशेषरूप से जानने के लिए उत्सुक हो रहा था।

दोपहर को फिर मोटर ने हम लोगों को कई जगह घुमाकर होटल के फाटक पर छोड़ दिया। कुछ पश्चात् अंग्रेजी भोजन आया। काँटे, चम्मच आये और जाने क्या-क्या आया?

मेरा मुंह बना। बोला वह—'ऐसा भी कहीं होता है। लो, खाओ; हम लोग बीसवीं शताब्दी में हैं।'

उधर पेग भी आये।

मैंने पेग को नहीं स्वीकार किया।

बोला—'यह तुम अच्छा करते हो। कभी न पीना, मेरे कहने से भी न पीना। यह बहुत बुरी चीज है और तुम्हारे लिए तो बेहद... !'

मुझे उसकी बात पंसद आयी। मैं प्रसन्न हुआ।

उसने समझाया—भोजन कैसे करना चाहिये। किस ढंग से चम्मच और काँटे का प्रयोग किया जायगा, यह भी समझाया। किस खाद्य पदार्थ का किससे चोली-दामन का साथ है, इसका ज्ञान कराया और जोर देकर कहा कि जो कुछ वह कह रहा है, मैं याद रखूं ताकि भद्र तथा उच्च समाज में मेरे द्वारा कोई भी और किसी प्रकार का भी असभ्यतापूर्ण कार्य न होने पाये। यह भी बतलाया—सिगरेट अच्छी तीन प्रकार की होती है। ५५५, गोल्डफ्लेक और ब्लैक एण्ड ह्वाइट। ५५५ पीने में हल्की होती है, उसे सुबह 'ब्रेकफास्ट' के बाद लेते हैं; गोल्डफ्लेक दोपहर को लंच के

उपरान्त लेते हैं और ब्लैक एण्ड ह्वाइट रात में 'डिनर' के पश्चात्। यदि तुम एक नियत समय में ली जानेवाली सिगरेट के बजाय किसी अन्य समय में ली जानेवाली सिगरेट को लोगे, तो मज़ाक बनेगी और हम लोगों को शरमिन्दा होना पड़ेगा। इस प्रकार वह मुझे 'मैनर्स' में दक्ष करने पर तुला था, पर मेरा मन उसके जीविकोपार्जन के माध्यम को जानने के लिए लालयित हो रहा था। अन्त में मुझ से नहीं रहा गया। मैंने पूछ ही तो लिया—'अच्छा भाई, अब तुम मुझ से साफ-साफ बतला दो, तुम करते क्या हो?'

'जिनसे बचने के लिए तुम से कहा है, उनमें से कोई नहीं। निहायत अच्छा और शरीफाना काम! अफसर मुझे जानते हैं और मानते भी हैं। राजे-रईस मेरी इज्ज़त करते हैं और मेरे मित्र हैं!'

मेरी उत्सुकता और बढ़ी। मैंने पूछा—'मसलन्?'

'अरे बता भी देंगे। ऐसी जल्दी भी क्या?'

फिर मोटर में घूमने चल पड़े।

रात को भोजन की टेबल पर :

दोनों आमने-सामने कुर्सियों पर बैठ गये। बीच में लगी, लम्बे, किन्तु रंगीन शीशे से जड़ी, टेबल पर अंग्रेजी खाना विविध प्रकार की कल पूर्ण रंगीन तश्तरियों में आ गया। छुरी, कांटे और चम्मचें फिर देखकर मैं हैरान था। ऐसा अवसर इसके पूर्व अपने जीवन में मुझे कभी नहीं मिला था। अन्तर में यद्यपि एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति का संचार हो रहा था, किन्तु अकारण ही मुझ पर शंकरसिंह की अयाचित किन्तु मानव-सुलभ कृपा के प्रति शंका भी रह-रहकर उत्पन्न होती थी जिह्वा को विभिन्न प्रकार के सुस्वादु खाद्य पदार्थ एक ओर जहाँ सुख पहुँचा रहे थे, वहीं दूसरी ओर ग्रास के गले से नीचे उतरते ही अज्ञात भय और शंका भी हृदय को दबोच लेते थे। यह ऐसी विकट स्थिति थी

जिसका वर्णन करने की न तो मुझमें शक्ति है और न आज उसे शब्दों द्वारा पूरी तरह व्यक्त करने ही की सामर्थ्य।

हाँ तो उसने कहा—'शुरू कीजिये।'

हम लोग लकालक पोशाक में सजे और लट्ठे की तरह सीधे खड़े होटल के 'बेयरों' से घिरे थे। शंकरसिंह मेरी भावभंगी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर रहा था और जो उसने मुझपर शान चढ़ायी है, इसकी भी वह परीक्षा-सी लेता चल रहा था। फिर उसने बेयरों से कहा—'टुम सब जाने सेकटा हय।'

वे सब चुपचाप, मौन रूप से बिना किसी प्रकार खटपट किये—अदब के साथ बाहर चले गये। इसी बीच वह एक 'पेग' झाड़ चुका था। मुझसे गम्भीर मुद्रा में कह रहा था—'तुम्हें मेरी कसम, मेरे कहने पर भी और किसी के कहने पर भी इसका एक घूंट भी गलती से न लेना। यह व्यक्ति के लिए दूसरी टी० बी० है। बड़ा भंयकर रोग है।'

'तुमने मेरे मन की बात कह दी। मैं चाहता भी यही था। अब शायद मैं तुम्हारे साथ निभ सकूं। लेकिन तुम क्यों—जानते हुए—इसे लेते हो?'

'यह सब न पूछो भाई। मेरी आदत पड़ गयी है तो इसका यह तो तात्पर्य नहीं कि मैं तुम्हें भी वही करने के लिए प्रेरित करूँ, दबाव डालूँ! यह तो अत्याचार है न? हाँ, एक बात है, मैंने अनुभव किया है, तुम अपने को हीन समझने की चेष्टा करते हो या तुम्हारी प्रकृति बन गयी है। कोई हीन नहीं है, केवल व्यक्तिगत रूप से अपने को हीन समझने पर व्यक्ति हीन-भावना से भर जाता है। तुम अपने को बड़ा आदमी समझो, राजा समझो; यही नहीं, बल्कि महाराजा भी समझो। किन्तु मेरा अपना ऐसा ख्याल है, तुम्हारी पोशाक तुम्हें नीचे की ओर घसीटती है। उसका भी कल ही इलाज हो जायगा।' कहकर वह निकटता की हँसी में हँस पड़ा और मेरे कन्धे पर अपना एक हाथ रख दिया।

टेबल में लगी घंटी की बटन दबायी। एक रमणी—गुड़िया की

तरह उछलती आयी और खाली कुर्सी पर बैठ गयी। शंकरसिंह की आँखों में हल्का सा नशा था और मुख पर मुस्कराहट। एक क्षण के अन्दर ही उसके लिए भी भोजन आ गया। उसने रमणी के लाल द्रव-वारुणी से भरे ग्लास से अपना ग्लास मिलाया और परस्पर के स्वास्थ्य-लाभ की मंगल-कामना प्रकट करने के पश्चात् फिर पीना शुरू किया। बीच-बीच में वह उल्टी-सीधी शैरें गुनगुनाता था !

"नज़र उनसे कस्दन लड़ायी गयी है,
मैं पीता नहीं था पिलायी गयी है।"

मेरा जी उचट रहा था। मेरे मुंह पर परेशानी के चिह्न स्पष्ट हो-गये थे। वह बोला—'सुरेश बाबू, आप बड़े आदमी हैं। आपने 'डिनर' में मेरा साथ दिया, इसके लिए मैं आपका शुक्रिया अदा करता हूँ। किन्तु बिला जरूरत तकलीफ नहीं देना चाहता। आपस में 'मैनर्स आब्ज़र्व' ही कौन करता है ? आप नींद लें।'

मुझे छुट्टी मिली। अपने बिस्तर पर आया और लेट गया और घंटों अपने नवीन जीवन के पृष्ठ पढ़ता रहा। कुछ समझ में नहीं आया।

बगल के कमरे में वह अट्टहास करता रहा। किंतु ऐसा स्वर्गतुल्य सुख पहिली बार ही मुझे मिला था। नींद आ गयी।

सुबह चाय की टेबल पर चाय ले रहे थे और पिछली रात की वार्ता चल रही थी। बाहर कोई आकर खड़ा हुआ और झुककर उसने अदब के साथ सलाम किया।

शंकरसिंह चौंक-सा पड़ा। उसे देखकर बोला—'ओह। शोफर ! टुम आगया ! भौत ठीक। चलेगा, अभी चलूंगा।' फिर मेरी ओर इशारा कर—'अभी साब चाय करटा हय।'

शोफर बाहर चला गया।

उसने मुझसे कहा—'देखो सुरेश, 'मास्टर-ब्यूक कार' बाहर खड़ी है। चलो, अब तुम्हारी ड्रेस का आर्डर दे दिया जाय।'

मैंने कहा—'देखा जायगा, अभी जल्दी ही क्या है?'

बोला वह—'वाह! यह खूब रही। चलो, चलो।'

हम लोग तैयार होकर कार में बैठ गये। ऐसी कारें शायद आज के प्रान्तीय मंत्रियों के पास भी नहीं हैं जिनकी समाजवादी आलोचना करते सुने जाते हैं। कार उड़ चली, किन्तु उसके चलने का शब्द भी नहीं सुनायी पड़ता था, मानो जल पर नाव चल रही है।

जानी-पहिचानी एक बहुत बड़ी दूकान के सामने कार खड़ी हुई। कपड़ा पसंद किया गया और तुरन्त ही लखनऊ की सबसे बड़ी सिलायी की दूकान पर दे दिया गया। मास्टर ने उसने हिदायत कर दी—'कपड़े उसी शाम को अमुक होटल के अमुक नम्बर के कमरे में पहुँच जाने चाहियें।'

मेरी पोशाक में उस मन्दी के जमाने में लगभग १४००) रुपये खर्च हुए थे। मैं हैरत और आश्चर्य मे था।

दिन भर व्यस्त कार्यक्रम रहा और इधर दौड़, उधर भाग। उस दिन दैनिक जीवन के प्रयोग की हजारों रुपये की लागत की वस्तुएं उसने मेरे लिए खरीद दीं। मैं सन्तुष्ट था।

सन्ध्या को भोजन करने के पश्चात् बोला—'सुरेश, आज एक क्लब से निमंत्रण मिला है। वहीं चलना है। तुम्हारी ड्रेस तैयार हो गयी हैं वह सामने रखी है। चलने की तैयारी करो।'

मैंने देखा—सचमुच ही मेरी पोशाकें बनकर आ गयी हैं। पूछा—'कहाँ चलना है?'

'गोमती के किनारे वाले क्लब में।'

उसने मुझे नवीन, मल्यवान वस्त्रों से पूर्णतः सुसज्जित किया। सिर पर कीमती साफा, लम्बी सुन्दर शेरवानी, चूड़ीदार पायजामा, ३६) रुपये के मूल्यवाले पेटेण्ट लेदर शू, हाथ की अंगुलियों में अंगूठियाँ, जिनमें नीलम, पन्ना, पुखराज और हीरे जड़े थे। मूँछों को उसने कोई मोम-सी

'सुरेश, लखनऊ खूब देखा और छान डाला। यहाँ से अब तबीयत उचट रही है। अब बम्बई चलने का इरादा है। बोलो, तैयार हो?'

मैं अचरज में पड़ गया। कहा, 'तुम्हें रुपये चाहिए। यहाँ भी तो मिल ही जाते हैं।'

'बस, इतने धन से ही तृप्ति हो गयी। धन...धन...धन...धन...। दुनिया में किसी वस्तु की इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी धन की। जितना भी ज्यादा वह हो, कम है।'

'लेकिन अभी मैंने घर को इत्तिला नहीं की। कहीं घरवाले...।'

'अजी, तुम बौड़म हो, पूरे गाउदी। घर को रुपये चाहिये। घर को तुम्हारी ज़रूरत नहीं। व्यक्ति प्रिय नहीं हुआ करता; व्यक्ति से सम्बन्धित स्वार्थ ही व्यक्ति को प्रिय और अप्रिय बनाते हैं। लो, यह रकम घर भेज दो।' कहकर उसने लगभग दो हजार रुपये मेरे सामने डाल दिये। बात मेरे हृदय पर जम गयी। मैंने कहा, 'एक काम तो हुआ, परन्तु एक अभी बाकी है। देखो, जब मैं यहाँ कुछ पहले बी० ए० में पढ़ता था तो मिस लिली की बड़ी शोहरत थी। सुनता था, उसकी फीस बड़ी लम्बी है और बड़े लोग ही उसे पा सकते हैं। मैं यहाँ से...।'

'ठीक है, तैयार हो। वह तो अब भी यहीं है। लेकिन...।'

कार बाहर आ लगी थी।। हार्न-ध्वनि आयी। शोफर आकर बोला, 'साहब कार आ गयी।'

हम लोग तैयार हुए। उसने मुझे रजवाड़े की पोशाक पहनायी और कार स्वयं 'ड्राइव' करने लगा।

दस मिनट पश्चात् कार मिस लिली के बंगले के सामने जाकर खड़ी हो गयी। शंकरसिंह ने दरबान से कहा, 'मेम साहब को फ़ौरन भेजो। राजा साहब इन्तज़ार कर रहे हैं।'

जब तक दरबान सुने और जाय, तब तक शंकरसिंह कार का 'स्टिय-

रिंग' छोड़कर नीचे आ गया और लम्बे पैर रखता बंगले के अन्दर जाकर दाँत पीसते कहा, 'जल्दी करो, राजा साहब ज्यादा वक्त दे नहीं सकते।'

वह अन्दर दौड़ा। मिस लिली कहीं जाने को तैयार थी। शीशे के सामने अपनी ड्रेसिंग कर रही थी। दरवान के सूचना देते ही वह बाहर दौड़ आयी और कार के निकट खड़ी हो गयी। शंकरसिंह बोला, 'जल्दी बैठिए। राजा साहब के पास ज्यादा वक्त नहीं है।'

वह बैठ गयी। मोटर होटल के सामने लग गयी। शंकरसिंह हम लोगों को छोड़ कहीं चला गया और कहता गया, "जल्दी ही लौट आऊँगा।"

अपने अतीत जीवन के उन सुखद और दैवी क्षणों की स्मृतियाँ आज भी मेरे रोम-रोम में पुलक—सिहरन उत्पन्न कर देती हैं और एक बार पुनः उसी जीवन में जा मिलने की उत्सुकता बढ़ जाती है।

मिस लिली मेरे साथ रही जैसे वह मेरे हाथ बिक चुकी थी। जब संध्या को शंकरसिंह लौटा तो बोला, 'अब बम्बई जाने की तैयारी करनी चाहिये' और उसने मिस लिली के सामने लगभग ४००) रुपये के नोट फेंक दिये। उसने कृतज्ञताभाव से उन्हें उठा लिया और पूछा—

'कब हाज़िर होने की...?'

'कतई ज़रूरत नहीं।' —शंकरसिंह घृणा से भरकर बोला। जब उसने मिस लिली को कार में बैठाकर विदा किया तो बोला—'मिस लिली, क्या कोई नारी किसी की नहीं होती? हमारे सामाजिक बन्धनों ने नारियों को दाब रखा है। नारी-वर्ग पुरुष पर जीवन-निर्वाह के लिए अवलम्बित है। यदि इन्हें भी सामाजिक स्वाधीनता मिली होती तो क्या ये किसी एक पुरुष की बनकर रहतीं? जैसे आज के युग का पुरुष स्वेच्छाचारी है, वैसे ही ये भी स्वेच्छाचारिणी होतीं।'

मैंने उसकी दलीलें सुनीं और कार जब लौट आयी, तो हम दोनों बम्बई की तैयारी में सामान खरीदने निकले। लगभग ढाई हजार

रुपये का सामान खरीद लाये। मुझे लगा, जैसे स्वर्ग यही है, यहीं है। धर्म-ग्रन्थों पर अनायास ही अश्रद्धा होने और मन घूमने लगा।

हम लोग दूसरे दिन जब स्टेशन आये तो भीड़ बड़ी थी। सामान पीछे आ रहा था। मैंने कहा—'शंकर, बड़ी भीड़ है। यात्रा अच्छी और आराम देनेवाली नहीं होगी।' वह बोला—'देखते हो, वह सामने जो 'एयर कण्डीशण्ड' डिब्बा लगा है, वह किसी दूसरे के लिए नहीं।' मैंने सोचा, दून की हाँक रहा होगा। लेकिन चार मिनट बाद ही उसने मुझे झूठा साबित कर दिया। सचमुच ही हम लोग उसी 'एयर कण्डीशण्ड' कार में बैठे। सुना था कभी पाकिस्तान के निर्माता जिन्ना महोदय बहुधा इसी प्रकार यात्रा करते थे। उनके सुख और उनकी महानता से मैं तुलना में अपने को उनसे आगे भी पाता था। क्योंकि मैं किसी 'स्तान' का निर्माता न होते हुए भी ऐसे अलौकिक सुख-क्षणों का रसास्वादन कर रहा था। यात्रा यद्यपि लम्बी थी, तथापि इस प्रकार कट गयी, जैसे हम लोगों ने यात्रा की ही न हो।

बम्बई स्टेशन। चहल-पहल। ऐसा रम्य स्थान! मैं प्रसन्न हो उठा। शंकरसिंह मुझे लेकर बाहर चल पड़ा। मैंने कहा—'और सामान?'

बोला—'अब भी तुम वही बने हुए हो, सुरेश! सामान लाने का कार्य जिसका होगा, वह करेगा। उसके लिए हमें और तुम्हें परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तुम जागीरदार हो और मैं हूँ तुम्हारा प्रायवेट सेक्रेटरी। हमें और तुम्हें अपनी स्थितियों का भली-भाँति ज्ञान रहना चाहिये। एक क्षण भी भूलना नहीं है, और पिछले जीवन के पृष्ठों को भी उलटकर नहीं देखना है।'

कार बाहर खड़ी थी। वह बोला—'पहिले ही 'वायर' (तार) कर दिया था। सब व्यवस्था है।'

हम लोग कुछ क्षण के पश्चात् ही ताजमहल होटल के सामने जा

पहुँचे। हम लोगों का कमरा पहिले से ही 'रिज़र्व' था। कमरे के अन्दर दाखिल हुए, देखा सामान हम लोगों के पहिले ही वहाँ उपस्थित है। बड़ा आश्चर्य लगा. शंकरसिंह सचमुच ही गजब का आदमी है। ऐसे आदमी ही तकदीर को बदल देते हैं।

कमरे की प्रत्येक वस्तु का उसने ज्ञान कराया। बताया, यह स्प्रिंगकाट है। चलती भी है। यदि तुम यहाँ सो रहे हो और यहाँ गर्मी के कारण सोना नहीं चाहते और बिजली के पंखे की हवा तुम्हें पसन्द नहीं, इस बटन को दाब दो, 'काट' स्वयं बाहर निकल जायगी—तुम्हें लिये। ये गर्मी और ठंडक पैदा करने के यन्त्र हैं। इस बत्ती का उपयोग पढ़ने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार वह कहता रहा और मैं सुनता रहा।

संध्या समय वह बोला—'आज हम लोगों की बैठक है। चलेंगे।'

हम लोग तैयार हुए। एक क्लब में जा पहुँचे। मैंने यह भी अनुभव किया, जानबूझकर शंकरसिंह मुझे कुछ नियत समय के पश्चात् ले गया था। सभी लोग मेरे आगमन की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। हमलोगों के अचानक पहुँचते ही सभी खड़े हो गये। मैं आवश्यकता से अधिक गम्भीर था। शंकरसिंह ने तेजी से मेरा सबसे परिचय कराया और विलम्ब से पहुँचने का कारण बताया—'जागीरदार साहब की आने की इच्छा न थी, परन्तु जब मैंने उन्हें 'इंगेजमेण्ट' की याद दिलायी तो तैयार होना पड़ा; कुछ हल्का-सा जुकाम है।'

हम लोग जम गये। ताश के पत्ते नाचने लगे। पेग दौड़ने लगे और सिगार-सिगरेट के धुएँ ने क्लब के वातावरण को कड़ुआहट से भर दिया। लेकिन मैं विवश था। जब शंकरसिंह के हाथ में पत्ते आये तो उसने मुझे अपनी उंगली से ज्यादा से ज्यादा रकम लगाने का संकेत किया। मैंने उसका आशय समझ लिया।

खेल चलता रहा और अन्त में जब 'शो' हुआ, तो उस दिन लाखों के नोट हमारे सामने बरस गये। सभी कह उठे—'बस, खेल हो चुका।'

शंकरसिंह ने उस दिन लगभग ड़ेढ़हज़ार रुपये का विल भुकतान कर दिया और कहा—'हमारे जागीरदार साहब ऐसा ही खेल पसन्द करते हैं। शौक नहीं है, तफरीह कर लेते हैं।'

मैंने किंचित् मुस्कराकर धीरे से सिर हिलाते हुए अपने उस समय के प्राइवेट सेक्रेटरी की ताईद कर दी।

नोटों के बण्डल के बोझ से शंकरसिंह स्वयं परेशान था, पर आन्तरिक प्रसन्नता ने उसका साहस दुगुना कर दिया था।

हम लोग होटल वापस आये और वह रात ऐसी कटी जब जीवन का कोई अभाव मेरे निकट नहीं खटक सका। मैं सचमुच ही राजा था—और सच्चे अर्थ में।

× × ×

लखनऊ छूटा, किन्तु मिस लिली हृदय से अलग न हो सकी। मन-प्राण पर उसकी स्मृति छायी रही। उसका सौंदर्य हृदय के दर्पण पर स्मृतियों की स्पष्ट रेखाओं के सहारे, निखरता ही रहा। लोभी मन ने जो अनजान में सौदा कर डाला था, उसकी प्रतिक्रिया ने हृदय के भार को इतना वजनी कर दिया था, कि उसे संभालना दुरूह था। बम्बई आने पर, एक दिन, रात में मैंने २००) का टेलीग्राफिक मनिआर्डर उसके नाम कर दिया था, ताकि वह शीघ्र ही यहाँ 'ताज' में आ जाय। वह न आयी थी, मैं हैरान था।

सुबह हम लोग चाय पी रहे थे, कि मिस लिली का मुस्कराते हुए मेरे कमरे में प्रवेश हुआ। शंकरसिंह भौचक्का रह गया। बोला—'लिली आप यहां कैसे?'

'हुजूर ने याद किया था, मैं हाजिर हो गयी।' लिली का इशारा मेरी ओर था। एक बार मैं अपने कार्य पर लज्जित तो हुआ, किन्तु अपने को संभाल कर बोला—'जी हाँ, ठीक है, तशरीफ रखिए।'

शंकरसिंह बोला—'ठीक है, तफरीह हो जायगी।'

'जी नहीं, ज्यादा नहीं ठहर सकूंगी, लेकिन सरकार की आज्ञा का पालन करना जरूरी था।'

'कोई बात नहीं; यह तो प्रसन्नता की बात है। आपके आ से दिलचस्पी ही रहेगी, गोकि यहाँ भी कोई कमी नहीं है। लेकिन आप तो पूर्व परिचिता भी हैं।'

मैं चुप था। अब मुस्करा पड़ा। किन्तु शंकरसिंह को उसके आने से कोई विशेष प्रसन्नता भी नहीं हुई।

दिन आनन्द से व्यतीत हो गया। संध्या समय शंकरसिंह ने कहा—'आज जहाज़ के एक कैप्टेन के यहाँ से निमन्त्रण आया है। चलना चाहिये न?'

उसने इसी बीच एक पेग चढ़ा लिया।

मैंने कहा—'मुझे क्षमा कर सकेंगे?'

'कोई बात नहीं। मैं अकेला ही चला जाऊँगा।'

भोजन इत्यादि के पश्चात् मैं निद्रित हो चला। कई रातें जगते कटी थी, इसलिए 'स्लिपिंगकाट' की शरण लेनी पड़ी।

मिस लिली और शंकरसिंह—मुझे पता नहीं—रात में कब तक बातें करते रहे। हाँ, जब मिस लिली ने मुझे गुदगुदाकर जगाया, तब एक से कुछ समय अधिक जा चुका था। मैंने पूछा—'शंकरसिंह गया?'

वह मुस्करा दी।

रात जैसे स्वर्ग में कटी हो।

सुबह चाय आदि के पश्चात् पिछले तीन-चार दिन का बिल सामने आ गया। लगभग ५००) से ऊपर का हिसाब था। शंकरसिंह का कहीं पता न था। मैं सागर में डूबने उतराने-सा लगा। देखा—पहिनने के वस्त्र नदारत! मेरी कोई वस्तु भी बाहर नहीं है। रुपये-पैसे भी उसी के पास थे। अब मैं बड़े आश्चर्य में पड़ गया। मिस लिली बाहर घूमने के लिए उद्यत थीं। मेरी ऐसी स्थिति थी, जिसकी मैं

कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। मैनेजर से मैंने कहा—'मेरा प्रायवेट सेक्रेटरी बाहर गया है, वापस आने पर भुगतान हो जायगा।'

वह चला गया। बला थोड़ी देर के लिए टल गयी।

किन्तु मिस लिली का आग्रह न टल सका। जब उसने मुझे निरीह और संदिग्धावस्था में देखा, तो कुछ और ही अर्थ लेने लगी। उसने मुझे एक चलता पुरजा समझा और बोली—'देखिये साहब, मैं आज की गाड़ी से लखनऊ लौट जाऊँगी। मैं पहिले ही आप से अर्ज कर चुकी हूँ। आप मेरी फीस और रेलवे-फेयर (यात्रा व्यय) अदा कर दीजिये। देर न कीजिए, बस जल्दी कीजिए!'

मेरे चेहरे पर उड़ रही हवाइयों का वह शंकित भाव से अध्ययन कर रही थी और शंकरसिंह का न लौटना मेरे लिए जैसे फाँसी का दण्ड बन रहा था। जब मैंने अपनी असमर्थता पर गहरी साँस ली, तब वह बोली—'आप लोग फक्कड़ मालूम होते हैं। अब मैं पुलिस की शरण लूंगी। इज्जतदार लड़की के साथ भी कहीं ऐसा विश्वासघात किया जाता है! आपको शर्म भी नहीं आती! आप चोर हैं, बदमाश हैं! आपके लिए जो कुछ भी कहा जाय, सब थोड़ा है। जागीरदार होते हुए भी...इतना कहने के पश्चात् वह मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही उठकर बाहर की ओर चल दी। मैंने पुकारा—'मिस लिली···मिस लिली···'

उसने कोई परवाह न की।

मैं भागने की चेष्टा में था।

इसी बीच पुलिस आ गयी और मैं हिरासत में ले लिया गया। होटल के मैनेजर ने भी—अपने रुपये वसूल करने के उद्देश्य से—मेरे विरुद्ध अनेक प्रकार के आरोपों की सूची तैयार कर दी।

दस मिनट के अन्दर मैं सींखचों के अन्दर आ गया। सब कुछ भूल गया। विलासिता के स्वप्नों का जो दुर्ग बना था, वह बालू की

भीत की तरह क्षणभर में ढह गया। मैं पसीने-पसीने हो चला। अन्दर तो भयंकर हाहाकार का उत्पीड़न था ही, बाहर भी शंकरसिंह के प्रति गहरा विद्रोह जग आया था। जी में था—पा जाऊँगा, तो मार डालूँगा उसे! कच्चा खा जाऊंगा। सोच रहा था—परिवार यदि कहीं कुछ सुनेगा तो मेरी क्या दशा होगी? मित्र मेरे सम्बन्ध में क्या राय करेंगे? अखबार मेरे सम्बन्ध को लेकर क्या लिखेंगे? इस क्षण फिर ईश्वर का स्मरण हो आया और उसके प्रति आस्थाभाव जगने लगा।

लगभग तीन दिन मेरी बुरी दशा रही। वस्त्र बदबू करने लगे थे। चेहरे पर मुर्दनी छा गयी थी—कुछ भी तो अच्छा नहीं लगता था।

चौथे दिन मैं मुक्त हुआ। देखा—वही शंकरसिंह। मुस्कराते बोला—'कोई परवा नहीं मित्र! यह सब चलता है। जीवन तो भावना-तरंगों का जाल है।'

मेरी आँखें डबडबा आयीं।

कार में फिर लौटा। रास्ते भर अपने देर से लौटने के कारणों को वह समझाता रहा। मुझे धैर्य देता रहा। फिर होटल के कमरे के अन्दर घुसते ही उसने गाली बकना शुरू कर दिया। अनेक वस्तुएँ तोड़ डालीं। प्रबन्धक को बुरा-भला कहता रहा और अन्त में नोटों का बण्डल प्रबन्धक के आगे फेंकता हुआ बोला—'लीजिए, संभालिए अपने रुपये। लिखित माफी माँगिये और आपने जागीरदार साहब की जो 'इन्सल्ट' (बेइज्जती) की है, उसके लिए मुझे मजबूरन मानहानि के दावे की शरण लेनी होगी।'

फिर मुझसे बोला—'स्नान कीजिए, कपड़े बदलिए और भोजन करके कुछ आराम कर लीजिए। गलती तुम्हारी थी। रुपये आलमारी में थे। ताला तोड़कर क्या रकम निकाल नहीं सकते थे? या 'डुप्लीकेट' की मैनेजर से लेकर आलमारी नहीं खोल सकते थे?'

मैंने कहा—'बस हो चुका, मैंने चित्र के दोनों पहलू देख लिये। अब

एक क्षण भी आपकी संगत में रहना मेरे लिए असम्भव है। क्षमा कीजिए, महोदय।'

उसने बहुत समझाया, परन्तु मैंने उसकी एक भी न मानी। मैं घर के लिए उतावला हो रहा था। उसने कहा 'तो तुम जिन्दगी भर बन नहीं सकते। चमक नहीं सकते।'

मैंने कहा—'एक भी नहीं सुनूँगा, एक भी। मुझे ऐसा धन नहीं चाहिये। मुझे ऐसा वैभव नहीं चाहिये। मैं सभ्यता की इस देन को नमस्कार करता हूँ।'

सामान तैयार कर दिया गया। सीट रिजर्व करा दी गयी। मैं ट्रेन में बैठ गया और चलते समय उसने लगभग चार हज़ार रुपये का बण्डल मुझे सौंपते हुए कहा—'यात्रा कट जायगी न? और?'

मैंने कहा—'बस, ठीक है?'

गाड़ी चलती रही। वह मुस्कराता रहा और दूर से जब तक गाड़ी उसे दिखाई दी, उसका वायु में उड़ता रूमाल मुझे बिदाई देता रहा।

घर वापस आने के उपरान्त एक दिन पुनः लखनऊ नौकरी की तलाश में गया था। संयोग, सौभाग्य या दुर्भाग्य से जो कुछ भी कहा जाय, शंकरसिंह की 'कार' मेरे निकट आकर खड़ी हो गयी। बोला—'मैं दूर से देखकर तुम्हें पहिचान गया था। चलो, मैं यहीं हूँ आजकल।'

मुझे फिर 'कार' में डाल लिया और हज़रतगंज के एक बंगले में ले गया। बोला—'देखो, यह मेरा आफिस है। तुम्हें नौकरी चाहिये। यहीं मैनेजर बनकर काम करो।'

बड़ी शान का दफ्तर था, हरे रंग से पुता था। टेलीफोन हरे रंग का, फर्नीचर हरे रंग का, कार्पेट हरे रंग का, सब कुछ एक रंग था।

मैंने कहा—'नहीं, मैं सुखी हूँ।'

बोला—'क्या सुखी हो, खाक? नेहरूजी, पटेलजी आदि तो मेरे पुराने मित्र हैं।' पत्र-व्यवहार की फाइल भी खोलकर रख दी। बोला—

'देखो, इधर सोने की खानों की मैं विशेष जानकारी प्राप्त कर रहा हूँ और शीघ्र ही विदेश जाकर इंजीनियर लाऊँगा, जो कार्य आगे बढ़ा सकेंगे और भारत-सरकार से यथेष्ट सहायता भी मिलेगी। तुम भी विदेश चल सकते हो। अजी कब तक सड़ोगे इस तरह, सुरेश!'

मैंने अपने दोनों हाथ जोड़ दिये और विदा लेकर घर चलने लगा तो बोला—'अभी कब तक लखनऊ रहोगे ?'

'दो-तीन दिन !'

'कहाँ ?'

'मामा के यहाँ ?'

'लिली के यहाँ तो नहीं ?'

मुझे जैसे किसी ने चाबुक मार दिया हो। चुप रह गया।

तीसरे दिन जब एक बार फिर मैं शंकरसिंह के बंगले पर उससे मिलने गया, तो दरबान ने कहा—'साहब कल खाली कर गये। पता नहीं कहाँ गये बाबू।'

मैं आश्चर्य-चकित-सा रह गया।

तब उसकी माँ के पास—पुराने घर रकाबगंज—जा पहुँचा। माँ मिलीं और कुशल-समाचार पूछती रहीं।

फिर कुछ क्षण रुक माँ ने कहा—'बहुतेरा समझाती हूँ, बेटा शादी कर ले, घर बस जाय, इस बुढ़िया के अन्तिम दिन ही सुख-चैन से कट जायं, पर कुछ ध्यान नहीं देता, बिलकुल ही उसे मेरी बात पसन्द नहीं आती। क्या करूं, प्राण भर अटके हैं ?'

मैंने लक्ष्य किया—आँखें उसकी व्यथा के गीले आँसुओं से भींग गयी हैं और आँसू टप-टप कर धरती पर गिर रहे हैं। बुढ़िया माँ ने सिसकते कहा—'बैठ जा बेटा, तू भी तो अपना है। तू ही कुछ उसे समझाता; साथ का खेलाड़ी है न तेरा !'

मैंने कहा—'मैं मिलने ही आया था उससे। कहाँ है और क्या कर रहा है आजकल ?'

हृदय की गहरी व्यथा को संभालती उत्तर में बोली वह—'इधर महीनों से नहीं आया घर । जाने भोलवा कहाँ रहता है, और क्या करता है ?'



: २ :

अपनी माँग

'हरे केले, हरे केले, क्या बढ़िया केले हैं' सड़क से एक केलेवाले की आवाज राधा के कानों में गूँज गयी, वह अधीर हो उठी। दौड़ती बाहर गयी और बोली—'ए केलेवाले ! मैं केले लूँगी। पैसे माताजी से लेकर अभी आती हूँ जाना नहीं, हाँ।'

केलेवाला रुक गया, बोला—'जल्दी आ जाना, रानी बिटिया ! मुझे जल्दी है।'

'अभी आयी अच्छे-अच्छे केले देना, हाँ,' कहकर वह माता के पास गयी।

केलेवाला सोच रहा है—कितनी चंचल और बुद्धिमान लड़की है !

लड़की का पूरा नाम राधिका है, पर छोटा नाम राधा कहा जाता है। वह माँ के पास दौड़ती, दम तोड़ते आ पहुँची।

अवन्तिका उसकी माँ है, पर अवन्तिका उस क्षण उसकी माँ न थी, वह अपने से बैर किये थी। इसलिए सारा जग उसका बैरी बन उठा था, और राधा उस बैरी जग के बाहर तो न थी—

'माता जी।'

वह कुछ न बोली, सामने की टेबिल पर अलबम रक्खा था और उसके अनेक पृष्ठ पलटे जा चुके थे, वह जैसी गम्भीर थी, वैसी ही बनी रही।

'माताजी, मैं केले लूँगी।'

गुमसुम अवन्तिका बैठी है, कुछ भी उसने नहीं सुना, यह अन्तर्यामी जाने, किन्तु यह सच है वह बोली नहीं।

तब सुन्दर साड़ी का आँचल खींच राधा बोली—'मुझे पैसे दे दो, मैं केले लूँगी।'

'तू केले नहीं लेगी।'

'लूंगी, मैं तो हैं हैं' रिरिया कर बोली, आँखों में आँसू भर कर, दीन भाव से।

'मैं कहती हूँ, तू नहीं लेगी।'

'मैं केले खाऊंगी।'

'तू नहीं खायगी री, तू नहीं लेगी, फिर ले लेना।'

'फिर लौटकर कब आता है।'

'तो ले केले।' तो एक तड़ाक से तमाचा राधा के गालों पर आ पड़ा।

राधा हठधर्मी पर तुल गयी, बोली—'मैं तो लूंगी।'

तड़ाक, तड़ाक इस बार दो तमाचे राधा के दूसरे गालों पर पड़ गये। अवन्तिका बोली—'ले खा ले केले और लेगी ? और लेगी ! हाँ तो मानती ही नहीं।'

राधा ड्राइंग रूम में पड़ी दरी पर लेट गयी और इधर-उधर लेटती रोने लगी।

अवन्तिका अपने से खीजकर फिर कुर्सी पर बैठ गयी। राधा का एक वाक्य उसके हृदय में शूल की तरह गड़ गया, यद्यपि राधा ने केलेवाले के लिए ही कहा था, 'फिर लौटकर कब आता है ?' तथापि जैसे अवन्तिका की स्मृतियाँ जो निद्रित थीं, सुपुत्त थीं, एक झोंके में सजग, पुलकित हो उठी।

वह सोचने लगी—क्या सच ही, जो बीत गया, सो बीत गया ! जीवन में, भविष्य के अकल्पित जीवन में उसका कुछ भी महत्त्व नहीं, अस्तित्व नहीं ! जो जहाँ है, वहीं तक है ? उसके आगे कुछ भी नहीं ?

क्या बीते सुखमय क्षण, भविष्य जीवन के अकल्पित नभ पर तारों की तरह नहीं टिमटिमाते रहते !

दूसरे क्षण अवन्तिका ने सोचा—तारे नाशवान् हैं। आकाश, पाताल जीवन, जगत, माया, ममता, भाई, बन्धु सब कुछ नाशवान् हैं। सब कुछ झूठ है सम्बन्ध भी इसीलिए झूठ है।

अरे ! यह वह क्या सोच बैठी ? पति के लिए भी···?

तब उसकी आँखें भर आयीं। बोली—'ऐ दुष्ट लड़की उठती है या नहीं, कि अभी और केले खाने का मन है ?'

राधा लेटी सुबकती रही। उसकी पीड़ा असीम थी।

कि इसी बीच प्रकाश—पति महोदय आ गये, देखा—यह तो कुरुक्षेत्र बना है ? राधा शिकार बनी धराशायी है। प्रेम-भाव से बढ़कर अपनी गोद में ले लिया, पुचकारा, गुदगुदाया, कहा—'क्यों रोती है, राधा ? क्या बात है, रानी ?

अवन्तिका अपने आप से क्रोधित थी। कुछ बोली नहीं सोच रही थी—बस, इन्हीं को तो राधा प्यारी है, वह राधा के लिए तो कुछ है नहीं ! राधा के सुख-दुःख का बस इन्हें ही ख्याल है ? मैं तो कुछ हूँ ही नहीं इसकी !

राधा ने पूरी कहानी कह सुनायी। प्रकाश बोला—'ले, राधा ले, रुपया ले और जितने केले चाहे, ले आ।'

राधा का रोता मुँह गुलाब की कली की तरह एक क्षण में खिल उठा।

प्रकाश अवन्तिका से बोला—'अरे ! तुम्हे आज हो क्या गया है ? राधा केले माँगती थी, तो क्या बेजा करती थी। उसकी माँग की ऐसी अव-हेलना भी क्या ? ईश्वर ने यदि धन दिया है, सुख दिया है, तो उसे, उसकी माँग से क्यों वञ्चित रक्खा जाय ? उसकी माँग बिलकुल जायज है।'

अवन्तिका वहाँ थी ही कब ? मन उसका जाने कहाँ गया था। इस-

लिए उसने गम्भीरतापूर्वक प्रकाश के वक्तव्य का विश्लेषण नहीं किया। राधा की केले की माँग जायज़ है या नहीं, इस पर भी उसने नहीं सोचा। जब आवश्यकता पड़ेगी, सोच लेगी।

फिर उसे ध्यान आया, पति चाय पीने आये हैं, उनका समय थोड़ा है, विलम्ब होने में उन्हें व्यापारिक हानि भी होगी। यह क्या उसकी अपनी हानि नहीं है ?

टेबिल पर चाय आयी, परिवार में तीन प्राणी हैं। राधा, अवन्तिका प्रकाश, तीनों ही गोल टेबिल पर बैठ गये ! चाय के कप चलने लगे। राधा ने केले का ढेर अपने सामने रख छोड़ा था। जो अवन्तिका को शायद पीड़ा भी पहुँचा रहा था।

'अच्छा, आज मुझे जल्दी है, अवन्तिका, आज ज्यादा नहीं बैठूंगा। मैं चला......'

अवन्तिका खड़ी हुई, बोली नहीं, केवल सोचती रही। कुछ घुमड़न थी उसके अन्दर, बरस पड़ना चाहती थी।

पति गये, राधा खेलने लगी। उसने ड्राइंग रूम के सामान को ठीक किया, नौकर तीन दिन से आया नहीं, इस पर कुढ़ती रही। फिर वस्त्र बदले और चर्खा लेकर बैठ गयी।

उधर प्रकाश जब चाय पीकर घर से ताँगे पर चला, तो किसी ने बड़े मीठे स्वर में पुकारा—'अरे प्रकाश बाबू, प्रकाश बाबू, जरा ठहरिएगा।'

प्रकाश चौंका, ताँगा रोक दिया। घूमकर देखा—अरे ! यह निखिल ! यह यहाँ कैसे टपक पड़े ?

दोनों प्रसन्नता प्रकट करते, एक-दूसरे की ओर लपके, हाथ मिलाये। प्रकाश बोला—'बड़ी प्रसन्नता हुई, आपसे मिलकर, निखिल बाबू ! बड़ी कृपा की, कैसे आना हुआ ? कब आये ?'

निखिल अब बैरिस्टर हो गया है, बोला, 'स्थानीय कोर्ट में एक कत्ल के केस में मेरी बहस थी।'

'अच्छा, अब घर चलिये।'

'जरूर, इसीलिए तो आया हूँ। सुना था, बड़ा अच्छा व्यापार कर रहे हो, मकान भी बनवा लिये हैं, भाभी के भी दर्शन बहुत दिनों से नहीं हुए।'

'हाँ, हाँ, बस चलिये,' दोनों ही एक ताँगे में सामान रखकर बैठ गये और घर के सामने आ लगे।

निखिल ताँगे से उतरा, और सुन्दर बँगला देख ठहाका मारकर हंस पड़ा, बोला, 'धन्य हो प्रकाश बाबू, बड़ा सुन्दर बंगला बनवाया है!'

अवन्तिका के कानों में बाहर से आवाज पड़ी, तो पहले चौंकी, फिर जिज्ञासा-भाव से, उत्सुकता से, बाहर जाने का उपक्रम करने लगी। फिर सोचने लगी—मैं क्यों जाऊँ बाहर, जिसे मेरे घर, मेरे यहाँ आना होगा, वह तो मेरे पास, यहाँ आवेगा ही! जिसे इस घर से, मुझसे कोई वास्ता नहीं है, वह अपना सीधे चला जायगा, उसे दौड़कर देखने की ही क्या जरूरत!

जैसे स्टेज का परदा हटा हो, दरवाजे के सुन्दर परदे को हटाते निखिल और प्रकाश आ गये।

अवान्तिका ने अचरज से आँखें भर कर निखिल को देखा और जैसे छुईमुई की तरह सूख गयी वह। जी में आया उसके—निखिल बाबू, अब तुम्हारा यहाँ अपना कौन है? तुम्हें यहाँ आने की आवश्यकता ही क्या थी? तुम्हें यहाँ जान अनजान में ले ही कौन आया? तुम यहाँ किस पर अपनामे का अधिकार जताने आये हो?

दूसरे ही क्षण—अरी अवन्तिका, पागल न बन! पथिक अतिथि के साथ······

अवन्तिका के मुख पर मुस्कराहट फूटी, ईयरिंग हिले। मुख पर अरुणिमा छा गयी। प्रकाश बोला—'अरे ! तुमने अभी तक इन्हें पहचाना नहीं ?'

बीच ही में निखिल बोल उठा—'ये कुछ और सोच रही हैं शायद ! पहचान की भूमिका को ही खोज रही हैं, क्यों न भाभी ? मैं निखिल हूँ।'

मन ही मन अवन्तिका ने कहा– तुम्हारे निखिल कह देने से ही क्या मैं, मेरी आत्मा, मेरे मन प्राण यह स्वीकार कर लेंगे, कि बस तुम केवल निखिल भर हो और निखिल से परे जो कुछ हो, उसका परिचय कौन दे ? अन्तर्यामी ?

'अच्छा, अब देर करने की आवश्यकता नहीं, चाय, फल, मिठाई और कुछ नमकीन भी सब लाओ.........' अवन्तिका प्रबन्ध में उलझ गयी और उसके मन की ग्रन्थि और सख्त, मजबूत, होती गयी।

चाय की गोल टेबिल पर सब बैठ गए। राधा, अवन्तिका, प्रकाश और निखिल।

निखिल ने चाय के रंग की ओर देखा, गहरा बादामी है और सामने विविध प्रकार की मिठाइयाँ, और फल।

निखिल बोला—'आज जीवन में एक युग के बाद यह चाय पीने को मिली है, भाभी !'

अवन्तिका शान्त है। हाँ, उसका मस्तिष्क एक लज्जामिश्रित मुस्कराहट से आँचल की शरण पाने की चेष्टा में है।

प्रकाश ने कहा—'मेरे जीवन, गृहस्थी को बनाने, और परिवार का भार सब कुछ इन्हीं पर है, बड़ी कुशल हैं।'

'लेकिन जैसे अब बोलने से परहेज करती हों, क्यों भाभी ?' निखिल ने प्रश्न किया।

एक भूली याद। अवन्तिका ने सर ऊपर उठाया, मुस्कराने की चेष्टा की—निष्फल, किन्तु उन बड़ी-बड़ी आँखों में जाने किस समुद्र की अथाह जल-राशि उमड़ आयी।

प्रकाश ने कहा, 'जिम्मेदारियों के साथ गम्भीरता का बढ़ना स्वाभाविक ही है, वैसे यह बड़ी चैतन्य हैं।'

अवन्तिका का हृदय बैठने लगा। उसके जी में आया, कह दे जाओ, अब यहाँ से जल्दी जाओ, निखिल, यहाँ एक क्षण भी.........

सबने चाय समाप्त करदी।

अवन्तिका ने चाय नहीं ली। एक प्रश्न के उत्तर में बोली—'मेरा चाय का अभ्यास नहीं है, नुकसान करती है।'

तमाम बातें, विचार-विनिमय होता रहा। इसी बीच निखिल ने अपनी घड़ी की ओर देखा और बोला—'अच्छा, अब चलूँगा, प्रकाश बाबू, ट्रेन का भी समय निकट आ रहा है।' फिर चौंककर जैसे अपनी भूल सुधारते हुए—'लेकिन हाँ, भाभी और राधा के लिए ये उपहार हैं, जिन्हें स्वीकार कीजिए। केस में रकम बहुत मिल गयी थी, सोचा इसमें सबका अधिकार है; आपको देने योग्य मैं कहाँ? लेकिन, आशा है, भाभी और राधा के लिए इन्हें स्वीकार करने में आपको आपत्ति न होगी?' कहकर उसने कुछ कीमती जेवर अपनी अटैची से निकालकर टेबिल पर बिछा दिये और कौन चीजें भाभी की हैं और कौन राधा की, इसे भी विधिवत् समझा दिया।

प्रकाश ने झिझकते हुए कहा, 'अरे, अरे, निखिल, भगवान् की कृपा से, तुम्ही देखो न, यहाँ इन लोगों को कमी ही किस वस्तु की है। यह न होगा, भाई, कभी नहीं, कभी नहीं, यह तो.........

'अवश्य होगा, ऐसा ही होगा, श्रद्धा के ये पुष्प भाभीजी के श्रीचरणों में रखने दीजिये और मेरी राधा को......' कहकर निखिल हंस पड़ा।

अवन्तिका शान्त, गम्भीर है, परन्तु जैसे किसी ने उसके संवेदनशील मर्म पर गहरा प्रहार कर दिया हो।

निखिल उठ खड़ा हुआ। प्रकाश के गहरे विरोध के बावजूद भी उसने कहा—'अब, आप भले ही इन्हें भाभी से उठवाकर बाहर फिंकवा दें,

पर निखिल इन्हें अपने साथ वापस न ले जायगा, न ले जायगा; जिस उपयोग के लिए लाया था, उद्देश्य पूरा हो गया, आप न लें, भाभी तो स्वीकार करेंगी ! आपकी तरह कठोर तो वे नहीं'—

प्रकाश मुस्करा पड़ा । बोला—'जैसी इच्छा ।'

किन्तु अवन्तिका भाभी ? वह अब तो और भी गूँगी हो गयी है । किसी ने जैसे उसकी वाणी रोक ली है । निर्वाक, मौन, चेतना-रहित और स्तब्ध ।

निखिल ने राधा को प्यार किया । भाभी से दोनों हाथ जोड़कर बिदा ली, जैसे दिवा-निशि का मिलन-वियोग हो रहा हो ।

निखिल ने देखा—अवन्तिका भाभी के नेत्रों में अथाह जल-राशि है और मुख पर भयङ्कर विषाद की घटाएँ । हृदय में क्या है, तूफान या और कुछ, अन्तर्यामी जाने ।

दोनों – निखिल और प्रकाश— हंसते ड्राइंगरूम के बाहर निकल गये । निखिल चलते सोच रहा था—प्रकाश बाबू, आखिर यह प्रहार क्यों ? मैं तो अपराधी नहीं हूँ ।

अवन्तिका अर्द्धमूर्छित, अर्द्धमृत सी चुपचाप कुर्सी पर आकर बैठ गयी । सोचने लगी– यह भयङ्कर भूकम्प जीवन में क्यों, कैसे और कहाँ से आ जाते हैं—अयाचित ? इनका जीवन से सम्बन्ध ही क्या है, जो हृदय की प्रत्येक शाखा को हिला जाते हैं ? फिर राधा की बात याद आयी 'फिर लौट कर कब आता है ?'

उसकी आँखें झर-झर-झर बरसने लगीं । अवन्तिका ने अपने से कहा—किस मन से कहूँ, निखिल, मैंने ये तुम्हारी भेंटें स्वीकार कीं, या नहीं ? पति—प्रकाश बाबू—की बात के सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं कह सकती, कहने का साहस ही नहीं कर सकती । कारण उनकी स्थिति से तो मैं कोसों दूर हूँ। हृदय की आवाज भी कभी-कभी अपने को नहीं सुनाई पड़ती; फिर वह तो दूर की बात है ।

विकल, व्यथित अवन्तिका अब फूट-फूट कर रो उठी और दोनों हाथ टेबिल पर रख, मस्तक भी टेक दिया ।

आह ! हंसती हुई मौत की तरह प्रत्येक की पीठ के पीछे यह 'अपनी माँग' प्रहार करती फिरती है ! वह सोच-सोचकर पीड़ा समेट रही है ।

इसी बीच तीखी और चिरपरिचित आवाज आयी—'हरे केले, हरे केले, क्या बढ़िया केले हैं !'

अवन्तिका सब कुछ भूल गयी । बिजली की तरह दौड़ी, चीखती हुई 'राधारानी, राधारानी !'

'माँ' राधा की आवाज आयी ।

'आ रानी, आ बेटी,' कह कर उसने अपनी गोद में उसे भर लिया, और केलेवाले से कहा—'एक रुपए के अच्छे केले दे दो । बहुत अच्छे··· और देखो, इसके लिए रोज जब इधर से गुजरो--दे दिया करो ।'

राधा प्रसन्नता से उछल पड़ी । बोली—'उस दिन माँ तुमने केले के लिए मारा था ?'

'अब न मारूँगी, कभी न मारूँगी । बेटी, ले केले, ले ले······',

राधा हँस पड़ी और उसे प्रसन्न देख अवन्तिका भी हंस पड़ी । उसे लगा, जैसे उसका सम्पूर्ण कलुष धुलकर स्वच्छ हो गया है और वह अपने को अत्यन्त हलका पाती है ।



: ३ :

मनोवृत्ति

उत्तर-भारत के प्रमुख व्यावसायिक नगर कानपुर की सभी फैक्टरियों और मिलों में 'लाक्-आउट' है—सभी बन्द कर दी गयी हैं। प्रायः डेढ़ लाख मजदूर-बाबू बेकार हैं, बिना रोज़ी-रोज़गार के हैं। हड़ताल का आज २१ वाँ दिन है। बेकार मज़दूर परेशान हैं। उनके चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। किसी ने दो फ़ाके किये हैं, तो किसी ने लगातार चार दिन चने-चबैने पर बिताये हैं। शहर का वातावरण क्षुब्ध और गरम है।

एक हड़ताली शंकर अपने मित्र उमा के यहाँ अनेक दिनों से रोटियाँ तोड़ रहा है। उसे शर्म नहीं आती। 'एटीकेट' 'मैनर' सामाजिकता आदि उसे अब पराभूत नहीं कर पाते। वह सोचता है और जाने क्या-क्या सोचता है—अब यहीं, उमा के यहाँ ही, जब तक हड़ताल चल रही है, पड़े रहकर दिन व्यतित करूँगा। बुरा क्या है? ज्यादा-से-ज्यादा उमा मन-ही-मन गाली दे लेगा, बुरा मानेगा? माना करे। इससे किसी का बनता-बिगड़ता क्या है? छोटे-बड़े सभी एक-दूसरे को गाली दे रहे हैं। पर संसार का काम चल रहा है। उसमें रुकावट नहीं, कहीं अवरोध नहीं। कौन ठीक है, कौन गलत, इस पर आज तक कोई सन्तुलित भाष्य उपलब्ध नहीं। परिस्थिति इसका निर्णय करती है। फिर जो समर्थ है, वह निर्वाह कर सकता है। वह गलत भी हो, तो भी ठीक है; क्योंकि वह निभा सकता है। मैं भी यहीं पड़ा रहकर अपना निर्वाह

कर रहा हूँ। बस, उमा कमा रहा है, जहाँ उसकी कमाई में उसके परिवार के कई व्यक्ति खा रहे हैं, वहां मैं भी एक हूँ। उसे यही समझना चाहिये। उसे धैर्य और समझदारी से काम लेना चाहिये। उमा बी० ए० है। ऊँची शिक्षा का उपयोग ऐसे ही अवसर पर होना है। 'प्रयोग' भी शिक्षा के लिए इन्हीं परिस्थितियों में हितकर है।···और हाँ, उमा भी बुरा नहीं मानेगा, माना करे। परवाह कौन करता है ? मैं भी तो एक मित्र हूँ। मित्र के नाते मेरा भी उसपर हक़ है। यही मेरा अपना घर है। मैं यहीं रहूँगा। यही मेरा अपना घर है। उसे क्या मालूम नहीं, हड़ताल चल रही है, मैं बेकार हूँ। परिस्थिति ने मुझे यहा पड़े रहने के लिए विवश कर दिया है,अन्यथा वह यहाँ आता ही क्यों ? आवश्यकता ही क्या थी ? आज तक वह उसके यहाँ मित्रता का ख्याल करके पेट की रोटियों के लिए क्यों नहीं आया ? स्पष्ट है, मजबूरी, विवशता, परिस्थिति।

शंकर को सिगरेट पीने का बुरा मर्ज़ है। बिना सिगरेट पिये उसे टट्टी साफ़ नहीं होती। लेकिन पल्ले कुछ है। नहीं कल एक मित्र ने एक सिगरेट दी थी, उसने थोड़ा-थोड़ा करके कई बार उसका उपयोग किया। आज जब उसने उमा से कहा—'भाई,दफ्तर से लौटने पर एक पैकेट लेते आना सिगरेट का।' उसने उमा से इशारा किया। उमा ने सब-कुछ सुन लिया। वह शंकर को २० दिन से खिलाते-खिलाते ऊब गया है। वह भी एक साधारण श्रमजीवी है। हालाँकि उसने नपुंसक उच्च शिक्षा पाया है; पर वह एक दफ्तर में सरकारी कर्मचारी है—क्लर्क। उसका बड़ा परिवार है। वह मितव्यथी है। बचता कुछ नहीं। कभी-कभी महीने के अन्त में उसे भी कर्ज लेने की आवश्यकता पड़ जाती है। फिर हज़रत शंकर हैं, तो लाट साहब हैं। दिन-भर गरम चाय की प्यालियाँ चाहियें उसे। सिगरेट, साबुन, तेल, लवेण्डर और एक ऐसी परिचारिका, जो दिन-भर उसी की सेवा में लगी रहे। बेकारी में घर क्यों नहीं चला जाता। ख़र्च कम कर दे। किसी दूसरे पर भार-स्वरूप न हो। और उमा शामको जब दफ्तर से

लौटा, तब अपने साथ सिगरेट का पैकेट न लाकर बालक-छाप बीड़ी का एक बण्डल लेता आया। उमा ने बीड़ी का बण्डल उसके आगे फेंकते हुए कहा—'बालक-छाप बीड़ी पिया करो, धुएँ के बलपर जिया करो।'

शंकर हो-हो-हो हा-हा-हो करके बेशर्मी की हँसी हँस पड़ा। जब वह बण्डल भी समाप्त हो गया, तब उसके अधजले अवशेष अंश, तो उसी के निकट पड़े थे, उन्हीं में से एक-एक को उठाकर सुलगाना प्रारम्भ कर दिया। अपने-आप से शंकर ने कहा—काम कभी किसी का रुकता नहीं। सब इसी प्रकार चल जाता है। ये दिन भी नहीं रहेंगे। देखते हैं, ये कब तक मिल-फैक्टरी बन्द रखेंगे। मैं तो चाहता हूँ, ये मिलें, आकाश को चैलेंज देनेवाली ये ऊँची-ऊँची चिमनियाँ भी गिरा दी जाँय, गिराकर धरती के बराबर कर दी जायँ। ये बड़े आदमियों के नख़रे तो बन्द हों। धनपतियों को जो इतनी जल्दी 'लाक्-आउट' करने का जुकाम होता है, वह तो न हो। मेरी ही तरह वे भी तो घुटें, पिसें, जीवन को समझें। मोटरों का दौड़ना तो रुके और उनपर बैठकर सैर-सपाटे का आनन्द तो समाप्त हो। सोफे, रेडियो, सिनेमा, हवेलियों का सुख तो समझ में आये कि यह सब-कुछ हमारे बूते ही उन्हें प्राप्त है। गरीब मजदूर-क्लर्क ही उनके विधाता हैं। उनकी 'सेफें' हम लोग ही अपने खून की गाढ़ी कमाई से भरते हैं और सुख भोगते हैं ये नीच साहूकार और कसाई मिल-मालिक !

× × × ×

शंकर लेटा था। करवट बदली। बेचैनी थी। परेशानी भी थी। लेकिन कभी-कभी वह बेचैनी पर आशा का संचार करना चाहता था। इसीलिए कभी-कभी मौज की लहर के साथ वह गुनगुना उठता है—'जिन्दगी है प्यारसे, प्यारसे बिताये जा !' लेकिन अन्दर शोरगुल कैसा ! शंकर यह सब क्या सुन रहा है ? सर्प के डँसनेपर विष जिस प्रकार

धीरे-धीरे शरीर में व्याप्त होता है, ठीक उसी प्रकार उसके मन पर असर हो रहा है।

स्त्री का मन्द स्वर है—'साँड़ की तरह पड़े-पड़े खाते हैं और इठलाते हैं। न काम, न धाम। कह क्यों नहीं देते साफ़-साफ़ कि बहुत हो चुका अब अपना रास्ता नापें। क्या तुम्हीं एक अकेले मित्र हो? कमाई कभी न सौंप दी, खाने ही भर को तेज़ हैं।...और दो चपातियाँ, जरा साग,... ले आते हैं न?'

'चुप, कहीं सुन लेगा वह।' उमा अपनी पत्नी का जैसे मुँह बन्द कर रहा हो।

'सुन लेगा, तो चला जायगा।'

'क्या सुख मिलेगा?'

'बला टल जायगी। बेकार आदमी का यह अड्डा नहीं है।'

'ऐसा नहीं कहा जाता।'

'मैं अभी साफ़ कहलाये देती हूँ कि क्या उन्हें राशन की कठिनाइयों की जानकारी नहीं है। बड़े चले हैं, ऐसा नहीं कहा जाता।'

उमा जब अपनी पत्नी को समझा-बुझाकर अन्दर से हर आया, तो देखा कि शंकर नहीं है। वह जा चुका है।

\+ + +

आज अमुक हाल में स्थानीय हड़ताल के सम्बन्ध में सभा हो रही है। निर्णय होगा, अब क्या होना चाहिये। हड़ताल चलायी जाय या सरकारी हुकूमत के आगे श्रमजीवी जनता आत्मसमर्पण कर घुटने टेक दे। बड़े-बड़े नेताओं के भाषण होंगे। शंकर भी सभा में, कोने में, एक ओर डटा हुआ है। मन क्षुब्ध है, सिनेमा जाने से रहा। यहीं बिना टिकट उसके स्वार्थ के सम्बन्ध में भाषण सुनने को मिलेंगे। वह उमा के यहाँ के एटम बम

का प्रहार सहन कर सीधे यहाँ चल आया है और अब सभा में भाषण सुनने के पश्चात् उमा के घर नहीं जायगा।

फिर भाषण हुए—लम्बे-लम्बे। शंकर सुनता कम था, सोचता अधिक था—ये भी उसी कांग्रेसी सरकार के गुर्गे-नुमाइन्दे हैं। इन्हें भी अब पेट भरने का मौक़ा मिला है। हड़ताल क्या हुई है, मरघट पर मुर्दा आ गया है। सभी रखवाली करनेवाले प्रसन्न हैं। इधर हम लोगों से कहते हैं, बहादुर मजदूरों, कर्लकों हड़ताल रखो; उधर पूँजीपतियों से रकम ले-देकर हड़ताल का सौदा तय करा देने का स्वाँग करते हैं, अपने पेट भरने की बातें करते हैं। ये सफेद कपड़े आते कहाँ से हैं? मोटरों पर चढ़कर लीडरी करना हम भी जानते हैं। हम लोग भी लम्बे-लम्बे भाषण कर सकते हैं। ये गोल्डन फ्रेम के चश्मे, ये छड़ी, ये जवाहर-कट टोपी, टोपी के चारों ओर कलापूर्ण ढंग से बिखेरे गए घुँघराले बालों की अभिनव छटा, दिन में दो बार क्लीनशेव्ड मुख पर क्रीम की मालिश, वार्निश के पम्प शू, कीमती शाल, हाथ फैला-फैलाकर सत्य-अहिंसा पर प्रवंचना झाड़ना, श्रमजीवी-वर्ग के लिए जीने-मरने का आश्वासन देना। ···बस, यही सब-कुछ तो रह गया है। बेटा 'डेमोक्रैसी' समझाते हैं। हड़-तालियों को भोजन देने की अवस्था भाड़ में गई। इन्हें 'जनतन्त्रवाद' का 'डिलीरियम' है। क्या बात है, नेताजी, डटे रहो! बढ़े चलो, अपना उल्लू सीधा करते चलो, यही सही अर्थ में 'डेमोक्रैसी' है। तुम अच्छे 'डेमोक्रैट' हो। मौज करो, मेरे प्यारे···जियो ···भारत के गर्दिश के दिन हैं! खीज कर शंकर वहाँ से लौट पड़ा।

शंकर ने अपनी राह ली। वह थक गया था। पैदल चलने की इच्छा न थी। लेकिन पाकेट में धेला तक न था; बिना पैसे वह किस सवारी पर बैठ जाय? उसने सोचा कि चारों ओर धोखेबाज़ी पर दुनिया चल रही है। सट्टेबाज़ी का ही तो ज़माना है। एक-दूसरे का शोषण, ठगी। संसार का काम है। न्याय पनाह माँग रहा है। ईमानदारी का दम-

घुट रहा है। यह राजनीतिक विषमता, यह आर्थिक असन्तुलन क्यों है ? इसीलिए कि धन को अपनी सम्पत्ति समझकर उसे देश की, राष्ट्र की सम्पत्ति बनने ही नहीं देते। ये बड़े-बड़े युद्ध क्यों हो रहे हैं ? न्याय की माँग के लिए नहीं, अन्याय और असन्तोष को और अधिक पनपाने के लिए। बीस-बीस रुपये देकर लाखों करोड़ों व्यक्ति कटा दिये गये हैं और कटानेवाले व्यक्तियों पर किसी प्रकार का कोई अभियोग तक नहीं चलाया जाता, प्रश्न तक नहीं उठता। पराजित राष्ट्रों के वीरों के विरुद्ध अभियोग चलाये जाते हैं। आज चर्चिल से इतना रक्त बहाने के पश्चात् भी कोई नहीं पूछता। हम लोग भूखों मर रहे हैं, रोटी का टुकड़ा मयस्सर नहीं है और उधर जनाब लोगों के कुत्तों के शरीर साबुन से साफ किये जाते हैं, उन्हें गोश्त खाने को मिलता है और कुत्ते महाशय कारों में बैठकर, हम लोगों को भूखों मरते देखकर, भौंकते हैं, हमारे मरने पर अपने क्रोध का इज़हार करते हैं। कारण स्पष्ट है, हम लोग विद्रोह करना नहीं जानते। दलबद्ध संगठन का अभाव है। सामूहिक शक्ति संगठित कर अन्याय का सामना करने की भावना अपने में पनपाते ही नहीं। ये जो हमारे गण्यमान्य लीडर हैं, इन्हें पब्लिक को गुमराह करने में मजा आता है ; क्योंकि इनकी मक्खन रोटियाँ इससे चलती हैं। कहते हैं : 'अब स्वराज्य के द्वार पर खड़े हैं। स्वतन्त्रता मिलने ही वाली है।' अरे, आज तक किसी देश को बिना जन-क्रान्ति के कहीं स्वाधीनता प्राप्त हुई है ?

आखिर थके-हारे जनाब शंकर को मूलगंज का चौराहा मिल गया और बस स्टैण्ड भी। बस आई। धड़ाके से, बिना किसी संकोच के, वह उस पर चढ़ गया। आराम से फैलकर बैठ गया। कण्डक्टर ने कहा—'टिकट बाबू जी।'

शंकर ने सुना, पर सुना नहीं। उसे क्या गरज ?

'पैसे बढ़ाइये, बाबू सा'ब।'

शंकर को क्या परवाह, उसने अब भी नहीं सुना।

का प्रहार सहन कर सीधे यहाँ चल आया है और अब सभा में भाषण सुनने के पश्चात् उमा के घर नहीं जायगा।

फिर भाषण हुए—लम्बे-लम्बे। शंकर सुनता कम था, सोचता अधिक था—ये भी उसी कांग्रेसी सरकार के गुर्गे-नुमाइन्दे हैं। इन्हें भी अब पेट भरने का मौका मिला है। हड़ताल क्या हुई है, मरघट पर मुर्दा आ गया है। सभी रखवाली करनेवाले प्रसन्न हैं। इधर हम लोगों से कहते हैं, बहादुर मजदूरों, कर्लकों हड़ताल रखो; उधर पूँजीपतियों से रकम ले-देकर हड़ताल का सौदा तय करा देने का स्वाँग करते हैं, अपने पेट भरने की बातें करते हैं। ये सफेद कपड़े आते कहाँ से हैं! मोटरों पर चढ़कर लीडरी करना हम भी जानते हैं। हम लोग भी लम्बे-लम्बे भाषण कर सकते हैं। ये गोल्डन फ्रेम के चश्मे, ये छड़ी, ये जवाहर-कट टोपी, टोपी के चारों ओर कलापूर्ण ढंग से बिखेरे गए घुँघराले बालों की अभिनव छटा, दिन में दो बार क्लीनशेव्ड मुख पर क्रीम की मालिश, वार्निश के पम्प शू, कीमती शाल, हाथ फैला-फैलाकर सत्य-अहिंसा पर प्रवंचना झाड़ना, श्रमजीवी-वर्ग के लिए जीने-मरने का आश्वासन देना। ...बस, यही सब-कुछ तो रह गया है। बेटा 'डेमोक्रैसी' समझाते हैं। हड़-तालियों को भोजन देने की अवस्था भाड़ में गई। इन्हें 'जनतन्त्रवाद' का 'डिलीरियम' है। क्या बात है, नेताजी, डटे रहो! बढ़े चलो, अपना उल्लू सीधा करते चलो, यही सही अर्थ में 'डेमोक्रैसी' है। तुम अच्छे 'डेमोक्रैट' हो। मौज करो, मेरे प्यारे...जियो ...भारत के गर्दिश के दिन हैं! खीज कर शंकर वहाँ से लौट पड़ा।

शंकर ने अपनी राह ली। वह थक गया था। पैदल चलने की इच्छा न थी। लेकिन पाकेट में धेला तक न था; बिना पैसे वह किस सवारी पर बैठ जाय? उसने सोचा कि चारों ओर धोखेबाज़ी पर दुनिया चल रही है। सट्टेबाज़ी का ही तो ज़माना है। एक-दूसरे का शोषण, ठगी। संसार का काम है। न्याय पनाह माँग रहा है। ईमानदारी का दम

घुट रहा है। यह राजनीतिक विषमता, यह आर्थिक असन्तुलन क्यों है ? इसीलिए कि धन को अपनी सम्पत्ति समझकर उसे देश की, राष्ट्र की सम्पत्ति बनने ही नहीं देते। ये बड़े-बड़े युद्ध क्यों हो रहे हैं? न्याय की माँग के लिए नहीं, अन्याय और असन्तोष को और अधिक पनपाने के लिए। बीस-बीस रुपये देकर लाखों करोड़ों व्यक्ति कटा दिये गये हैं और कटानेवाले व्यक्तियों पर किसी प्रकार का कोई अभियोग तक नहीं चलाया जाता, प्रश्न तक नहीं उठता। पराजित राष्ट्रों के वीरों के विरुद्ध अभियोग चलाये जाते हैं। आज चर्चिल से इतना रक्त बहाने के पश्चात् भी कोई नहीं पूछता। हम लोग भूखों मर रहे हैं, रोटी का टुकड़ा मयस्सर नहीं है और उधर जनाब लोगों के कुत्तों के शरीर साबुन से साफ किये जाते हैं, उन्हें गोश्त खाने को मिलता है और कुत्ते महाशय कारों में बैठकर, हम लोगों को भूखों मरते देखकर, भौंकते हैं, हमारे मरने पर अपने क्रोध का इज़हार करते हैं। कारण स्पष्ट है, हम लोग विद्रोह करना नहीं जानते। दलबद्ध संगठन का अभाव है। सामूहिक शक्ति संगठित कर अन्याय का सामना करने की भावना अपने में पनपाते ही नहीं। ये जो हमारे गणमान्य लीडर हैं, इन्हें पब्लिक को गुमराह करने में मजा आता है; क्योंकि इनकी मक्खन रोटियाँ इससे चलती हैं। कहते हैं: 'अब स्वराज्य के द्वार पर खड़े हैं। स्वतन्त्रता मिलने ही वाली है।' अरे, आज तक किसी देश को बिना जन-क्रान्ति के कहीं स्वाधीनता प्राप्त हुई है!

आखिर थके-हारे जनाब शंकर को मूलगंज का चौराहा मिल गया और बस स्टैण्ड भी। बस आई। धड़ाके से, बिना किसी संकोच के, वह उस पर चढ़ गया। आराम से फैलकर बैठ गया। कण्डक्टर ने कहा—'टिकट बाबू जी।'

शंकर ने सुना, पर सुना नहीं। उसे क्या गरज!

'पैसे बढ़ाइये, बाबू सा'ब।'

शंकर को क्या परवाह, उसने अब भी नहीं सुना।

'आप कहाँ तशरीफ ले जायँगे ?'

लेकिन शंकर अकड़कर ऐसा बैठा, मानो बस का वह सत्वाधिकारी है, स्वामी है। कण्डक्टर जैसे उसका मित्र है और वह शहर का यों ही, मौज आने पर, चक्कर लगाने निकला है। उससे टिकट, पैसे और बस के कर्मचारियों से किसी प्रकार का जैसे कोई सम्बन्ध नहीं है, सरोकार नहीं है। आखिर उसके अन्दर का विद्रोह···।

'आप ही से कह रहा हूँ, लाट साहब !' शरीर को झकझोरते हुए कहा उसने।

'ठीक है !'

'अबे, क्या ठीक है ?'

'ज़बान सँभाल के बात करना ! अबे-तबे से बात की, तो समझे रहना कि···।'

'तब फिर पैसे बढ़ाइये।'

'ले लेना पैसे भी। यहीं घण्टाघर तो चलना है। कौन बहुत दूर है ? दो मिनट का ही तो रास्ता है। ऐसी ज़ल्दी भी क्या ? कलेक्टरगंज आने भी तो दो।'

'अजीब आदमी हैं आप !'

'और आप नहीं हैं, जो सर खाये जा रहे हैं ? चुप रहो। तमीज़ सीखो।'

और बकझक करते घण्टाघर आ गया। शंकर उतरकर चलने लगा। कण्डक्टर ने हाथ पकड़ा। शंकर बोला—'अमा म्याँ, मेरे पास क्या रखा है ? जेब में भी तो धेला नहीं है। एक बीड़ी पड़ी है, चाहो सुलगा लो। हम हड़ताली हैं।'

धक्का देकर कण्डक्टर ने शंकर को बस के बाहर कर दिया। कहा—'शोहदे कमीने कहीं के ! बस में बैठने चले हैं। बड़े शौकीन दिखते हैं। अबे पैसे नहीं थे, तो...!'

पराजित कुत्ते की भाँति दाँत निकाल दिये शंकर ने और ठहाका मारकर हँस पड़ा शंकर। बोला—'आदाब-अर्ज़ जनाब, मैं मजबूर हूँ।' फिर उसने बीड़ी सुलगाई और सोचता हुआ आगे बढ़ा। और घण्टाघर के नीचे, टी-स्टाल पर, आ गया। यहीं वह चाय पी लेगा। उसके मित्र का खाता उसके यहां चलता है। उसी के हिसाब में शंकर अपने पैसे लिखा देगा। शंकर मजे से कुर्सी पर बैठ गया। चायवाले से बोला—'टोस्ट-मक्खन है?'

'जी हाँ, है।'

'एक प्लेट टोस्ट। मक्खन ठीक से लगाना। टोस्ट अच्छी तरह सेंक लेना। और देखो, एक नानखताई भी रख देना। चाय स्ट्रांग, बढ़िया और गरम चाहिये, अच्छा स्ट्रांग डोज़!'—मुस्कराया मन-ही-मन शंकर।

शंकर ने टोस्ट-चाय साफ़ की। फिर लापरवाही से चायवाले से कहा, 'दो पान और एक बर्कले मँगवा लो।'

'बहुत अच्छा।'

पान खाये और सिगरेट के धुएँ के तार प्रेम से शंकर ने वायु में छोड़ना आरम्भ कर दिया। दस-पाँच मिनट बैठने के पश्चात् वह चलने को तैयार हुआ और चायवाले से कहा—'अमुक महोदय के खाते मे ये पैसे डाल दो।'

'जी नहीं, जी नहीं! पैसे नकद दाखिल कीजिए। वे रोक गये हैं।'

'मेरे लिए कभी न रोका होगा?'

'सबके लिए।'

शंकर सन्न-सा खड़ा रह गया। अब वह क्या करे? उसके सामने अँधेरा छाने लगा। परन्तु परिस्थितियों ने उसे विवश कर रखा था। सिगरेट का एक लम्बा कश खींच, धुएँ को व्यंग्य भाव से नाक के दोनों

रन्ध्रों से निकालते हुए शंकर ने कहा—'तब मैं आपकी सेवा कर ही कैसे सकता हूँ ? मैं तो मजबूर हूँ।'

'मजबूरी गयी भाड़ में। रकम आपको देनी ही होगी। हराम का खाने में बड़ा मजा आता होगा, क्यों न ?'

'जो समझो। पर अब तुम्हारी रकम इसी तरह वसूल हो सकती है। चाहो, खाते में डाल दो···और यही सीधा रास्ता भी है। यही तुम्हें करना ही होगा। हड़ताल चल रही है। सभी को मालूम है। हम हड़ताली हैं।'

'उठाईगीर,···ले हड़ताली !' चायवाला बड़बड़ाया और शंकर ने कुछ सुना और कुछ नहीं भी सुना। चायवाले ने भी कोई चारा न देखकर तिरस्कार की नजर से उसे देखा और खाते में लिख लिया।

शंकर अपने में भूला आगे बढ़ रहा था। मित्र ने पुकारा—'हैलो, कामरेड शंकर, ए मिस्टर शंकर।' शंकर रुक गया। देखा, उसका मित्र दत्ता है। जी में आया, कैसे कुसमय में मिला है यह कम्बख्त कि दो-एक पैसे के पान-सिगरेट भी···। शंकर उसे देख हँस पड़ा और वह गगनभेदी ठहाका चारों ओर गूँज गया। दत्ता ने पूछा—'बड़े खुश नज़र आते हो ?'

'परवशता। परिस्थिति।' शंकर ने उत्तर दिया।

'आशय नहीं समझा ? क्यों हँसे, कैसे हँसे ?'

'हड़ताल के दिन हैं। मौज कर रहा हूँ। मजे ले रहा हूँ—चकाचक !

'ये ठाठ ! हम लोग मर रहे हैं, तुम्हें मज़ा आ रहा है ?'

'अरे भाई, मरनेवाले मरते हैं, हँसनेवाले हँसते हैं। मारो, खाओ, ये तो दुनिया है।' कहते शंकर ने अपने मित्र से हाथ मिलाकर विदा ली। तब उसके जी में आया, यह परदेश है अपने घर-गाँव से

बहुत दूर। अपना कोई नहीं। हमदर्दी प्र ट करनेवाला भी नहीं। सुखी हो या दुःखी हो, झूठ भी यहाँ पूछनेवाला कोई नहीं। अजीब दुनिया है, अजीब दीवाने! आर्थिक अवस्था इससे अधिक और क्या गिरेगी? किराया दो महीने का चुकता करना है। मकान-मालिकिन बुढ़िया उसे देख खा जायगी। उसके सामने जाना ठीक न होगा। बस, घिस्सेबाजी से काम लेना ही ठीक है। बनिये को रक़म भी देनी है! पानवाले के सिगरेटपान के दाम चढ़ गये हैं। धोबी कल दामों के लिए अलग बिगड़ रहा था। धोबी ने शोर मचा रखा था। अगर वह घर न जायगा, तो कोई उससे क्या ले लेगा? लटकने दो ताला घर के दरवाजे पर।......समय तो कहता है, अब इस शहर से चल देना ही...।

शंकर को भूख लगी थी। वह सीधा जाकर दुकानपर बैठ गया और महाराज से बोला—'गरम-गरम कचौड़ियाँ, जल्दी और बहुत जल्दी।'

'कितनी बाबू?'

'पहले चार।' कुछ रुक कर—'और देखो जी, आज प्रेम से भोजन होगा। टमाटर की चटनी, गोभी-आलू की स्पेशल सब्जी, रायता, खटाई, एक मिरचा—सब-कुछ लाओ।'

थोड़ी देर बाद शंकर ने कहा—'दो कोचौड़ियाँ और।'

शंकर ने कचौड़ियाँ साफ़ कर दी। महाराज ने पूछा—'और मीठा, बाबूजी।'

'हाँ, हाँ, वह तो भूल ही गया। वह भी...।'

'क्या लाऊँ?'

'यही खीरमोहन, राजभोग, चमचम।'

'बहुत अच्छा।'

मिठाई भी उड़ी। ऐसा अपनी कमाई में शंकर े प्रेम से भोजन क भ

आ गये। आज़ मुझे एक मित्र की जरूरत भी थी। गपशप करनेवाला कोई नहीं था।'

'जी, आदाब, शुक्रिया—मेहरबानी के लिए।' शंकर ने उत्तर दिया।

फिर 'ब्लैक एण्ड ह्वाइट' की बोतल खुली और पेग पर पेग चले। शंकर का दर्द और बदन का दुखना काफूर हो गया। वह अब स्वर्ग में था। रात का ग्यारह का घण्टा हुआ। शंकर बोला—'अब इजाज़त दीजिये, साहब! तकलीफ के लिए...।' खड़ा हो गया शंकर।

'सब ठीक है जनाब! मेरे लायक कोई ख़िदमत...।'

'जी, संकोच होता है।' कहकर फिर बैठ गया। बोला—'यही दस रुपए की ज़रूरत थी।'

चौधरी साहब बोले—'मुझे अफसोस है, आज मैं आपकी खिदमत नहीं कर सकूँगा।' और चौधरी साहब पेशाब करने जाने को खड़े हुए बोले 'अभी आया।'

शंकर का हाथ कुर्सी पर लटकते चौधरी साहब के कोट की पाकेट में गया और उसमें से पाँच रुपए का जो एक नोट निकला, वह शंकर की पाकेट में आ गया। चौधरी साहब के लौटने पर शंकर ने हाथ मिलाया, प्रेम से 'गुडनाइट' की और 'स्वीटन्ड्रीम्स' की दोहाई देकर होटल से धीरे-धीरे सोचता चला—म्याँ, चौधरी साहब, आप झूठ बोल कर चोरी करते हैं। और मैं···। चोर आखिर दोनों ही हैं। मैं हूँ शंकर!

शंकर नीचे सड़क पर जाने के बजाय एक ऐसे कमरे में गया, जहाँ लोग अपनी आबरू खोने जाते हैं। सोचा—अब यहाँ तक आया ही हूँ, तो इसके पास कम से कम होता चलूँ।

और नरगिस पुलकित हो उठी। बोली—'आज बहुत दिनों बाद जनाब तशरीफ़ लाये हैं?'

'जी, आजकल सट्टे का काम कर रहा हूँ।'

'तब तो अच्छी आमदनी होगी। लाखों के सौदे...।'

'आपकी दुआ से।' शंकर ने मुस्कराकर कहा—'नरगिस, जो-कुछ कमा रहा हूँ, तुम्हारे लिए।'

नरगिस सौदा करती है, हृदय का नहीं, प्रेम का नहीं, ईमानदारी-सचाई का नहीं, बल्कि पैसे का। एक का घण्टा हुआ। रात गम्भीर और सजग। ठंडक बढ़ गयी है आज। नशे का खुमार हल्का हो चला। पाँच का नोट नरगिस को देकर शंकर ने उससे पीछा छुड़ाया।

शंकर का जी अब कानपुर में नहीं लगता। वह यहाँ से खिसकने के चक्कर में है। चारों ओर प्रतिक्षण संघर्ष ही तो है यहाँ। जीवन के लिए विश्राम भी आवश्यक है। फिर 'लेबर स्ट्राइक' भी उसे चलानी है। उसे गवर्नमेंण्ट को झुकाना है। गवर्नमेंण्ट झुक जायगी, उसके मातहत कर्मचारी भी झुकेंगे।

प्रातःकाल लखनऊ जानेवाली ट्रेन तैयार थी। उसने सोचा—लखनऊ चलकर दो-चार दिन मौसी के यहाँ काटना अनुचित न होगा। वातावरण बदल जायगा और खाने-पीने की चिन्ता भी दूर हो जायगी। ट्रेन ने सीटी दी और चल पड़ी। शंकर जो अभी प्लेटफार्म पर चक्कर लगा रहा था, उछलकर चलती ट्रेन के एक डब्बे में जम गया। उसके जी में आया, परेशानी को लेकर दुनिया में निर्वाह नहीं हो सकता। फिर हम लोग तो जन्मजात विद्रोही हैं, संघर्ष से मैत्री करना अपना काम है। कई स्टेशन निकल गये। दुर्भाग्य से इस बार वह काले रंग का क्रूर टिकट-कलेक्टर इस डिब्बे में आ गया। सबके टिकट देखे, पञ्च किया। अब शंकर की बारी आई। किन्तु उसने जैसे टिकट-कलेक्टर महोदय की उपस्थिति का अनुभव तक नहीं किया।

टिकट-कलेक्टर ने कहा—'टिकट आपका?'

'जी, यहीं लखनऊ तक जा रहा हूँ। स्टूडेण्ट हूँ। अन्य कई मित्र पीछे के डिब्बे में हैं, टिकट उन्हीं के पास है।

'आप टिकट अपने पास लेकर क्यों नहीं बैठे ?'

'यह अनावश्यक प्रश्न है।'

'मुझे क्या पता, आपके पास टिकट है या नहीं ?'

'आपका इतने दिन का अनुभव और मेरी शराफ़त, बातचीत व्यक्तित्व बता सकते हैं। खेद है, आप...।'

'जी नहीं, आपको टिकट देना ही होगा।'

'कह चुका, टिकट लखनऊ प्लेटफार्म पर मिल जायगा। धैर्य न खोयें। मुझे भी लखनऊ चलना है और बीच में भागनेवाला व्यक्ति नहीं।

टिकट-कलेक्टर महोदय झुँझलाकर चल दिये। बोले—'लखनऊ भी आने दीजिये साहब !'

शंकर ने सोचा—अभी, फिलहाल झंझट तो टला। इज्जत तो रंगबाजी ने बचा ली। आँखों में बल डालकर अभी मामला बना लिया है। आगे की आगे देख लूँगा। जैसे इतनी घटनाएं टल गयी हैं, वैसे ही यह भी टल जायगी।

लखनऊ आ गया। टिकट-कलेक्टर जैसे उसी की ताक में था, बाज की तरह टूट पड़ा। बोला—'अब टिकट बढ़ाइये, यह लखनऊ भी आ गया है।'

'जी, तो आप अकड़ते क्यों हैं ? सीधे टिकट क्यों नहीं माँगते ?'

'अच्छे, बहुत अच्छे ! उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे। दाखिल कीजिये जल्दी, बढ़ाइये टिकट।'

'झंझट करना मुझसे व्यर्थ है। कोई लाभ न होगा।'

'इसलिए कि आप स्टूडेण्ट हैं ?'

'जी नहीं, सच तो यह है कि मैं पहले इन्सान हूँ और बाद में कुछ

और। सरकार यदि हम लोगों के भरण-पोषण और जीविका की सुचारु रूप से व्यवस्था नहीं कर सकती, तो प्रत्येक विभाग में अराजकता फैलेगी, गहरा विरोध उत्पन्न होगा।'

'इन सब बातों से मुझे कोई बहस नहीं, कोई वास्ता नहीं, मैं फ़कत जनाब से टिकट चाहता हूँ।'

'यदि मैं न दूँ, तो आप क्या कर लेंगे ?'

'जेलखाने आप लोगों के लिए ही तो हैं, आजकल साहूकार ही तो वहाँ पधारते हैं।'

'ज़बान सँभालकर बात कीजियेगा, वरना ज़बान निकाल लूँगा। जानते हैं आप, मैं कौन हूँ ?'

टिकट-कलेक्टर ने गला दबोचा और कहा—'लाट साहब के बेटे इधर चलिये।'

शंकर ने टिकट-कलेक्टर महोदय के गालों पर तौलकर एक लप्पड़ रसीद कर दिया—तड़ाक ! बोला—'अब जिधर तबीयत हो, ले चलिये। कुछ उठा न रखियेगा।'

× × ×

पुलिस-इन्सपेक्टर ने पूछा—'जनाब का इस्मशरीफ़ ?'

'ईज्जानिब को मारतेखाँ शंकरलाल कहते हैं।'

'पेशा ?'

'आजकल सट्टेबाजी।'

मतलब की बातें पूछ ली गयीं। शंकर ने मस्ती से उत्तर दिया। शंकर सोच रहा था—यहाँ भोजन न मिलेगा, तो वहाँ मिलेगा ही। वहीं सही।

टिकट-कलेक्टर ने शंकर की ओर घृणा से देखकर कहा—'आवारा, शोहदा !'

शंकर को जेलखाने भेज दिया गया। वह प्रसन्न और सन्तुष्ट था।

और एक अरसे के पश्चात्। शंकर कारागार से मुक्त हो गया है। हड़ताल समाप्त हो गयी है। मिल-फैक्टरियाँ खुल गयी हैं। शंकर सफ़ाचट मूंछों पर ताव देता अपने काम पर पुनः आ गया है।

सदल-बल पुलिस आयी। पूछा—'शंकरलाल ?'

'जी, मुझे कहते हैं।'

'आप पर वारण्ट है। आप गिरफ्तार किये जाते हैं।'

'कारण ?'

'आप पर अनेक सन्देह हैं। हड़ताल चलाने में आपका प्रमुख हाथ है। अधिकारियों पर आक्रमण भी तो…'

शंकरलाल एक बार पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के समय उसने कहा—'जनाब मेरा जीवन ही जनता की सेवा के लिए है। मैं अपना कदम पीछे कैसे रख सकता हूँ ? जब कभी भी पुकार होगी,...! यह भी अपना घर है, वह भी !'

शंकरलाल को कानपुर-जेल में नहीं रखा गया, बल्कि लखनऊ-जेल भेज दिया गया, ताकि शान्ति भंग न हो सके। पुलिस-वान में शंकरलाल बैठा है। बड़े-बड़े बाल वायु में उड़कर उसके मुंह पर आ रहे हैं और वह उन्हें बार-बार सँभालता जाता है। चेहरे पर प्रसन्नता है। आँखों में तेज की आभा है। मुंह में 'बर्कले-सिगरेट' दबी है, जो धुआँ छोड़ रही है। शंकरलाल सोचता है, दुनिया भी एक ही चक्कर है। अभी-अभी कल वह जहाँ से गया है, आज वहीं फिर पहुँच रहा है। कैसी गोल है यह दुनिया ! लेकिन उसे अपने लिए क्या चाहिये ? कुछ नहीं। वह तो जनता का है। वह नहीं चाहता कि जनता के जीवन में विषाद, वैषम्य एकत्र हो। वह हिन्दुस्तान को ठीक वैसा ही देखना चाहता है, जैसा आज का महान् रूस है। नेता भी चाहिए भारत को मोशिए स्टालिन-जैसा।

जेल का फाटक। जेल महोदय हाथ में बेंत लिये अकड़े खड़े हैं।

मोटर रुकी। शंकर उतरा। जेलर ने देखा—फिर वही, क्या माजरा है ? बोले—'फिर आ गये, जनाब ?'

'क्या करूँ, मजबूर हूँ ? बाहर रहने ही नहीं पाता। बार-बार यहीं लाया जाता हूँ ! फिर जनाब जेलर साहब, हम विद्रोहियों का जीवन भी...।'

सिपाही ने कहा—'अन्दर बढ़िये।'

शंकर ने इस बार ऐसा ठहाका लगाया, मानो वह आसमान गिरा देने पर तुल गया हो।

जेलर साहब मुस्करा रहे थे—अचरज से भरे !!



: ४ :

प्राण-प्रतिष्ठा

उर्वशी, मेनका, मत्स्यगन्धा, इन्द्रप्रिया आदि अनेक अप्सराएँ उस कलाकार के कलाभवन में एक साथ स्वर्ग से उतर आयीं। उनके साथ सैकड़ों किन्नरियाँ भी आयीं, वे जी भर कर नाचीं! कलाकार में एक बार पुनः जीवन की ज्योति जगी, उसका वृद्ध हृदय एक बार पुनः लहलहा उठा। यौवन की अँगड़ाई ली उसने। वह जीवन और जगत के व्यापार को बिलकुल भूल गया। उसने अपनी छेनी और हथौड़ी की पूजा की और संगमरमर-सम-श्वेत धवल पाषाण को चावल-चावल काटने लगा।

दिन आये और गये!

सप्ताह हवा से उड़े।

महीनों का पता न चला!

कलाकार मूर्तियों में भावनाओं को जीवित उतारने में व्यस्त है। उसे कुछ न चाहिये! यह शाहंनशाह है, शाहंशाहों का शाहंशाह। वह गरिमा से मंडित और श्री-सम्पन्न को भी अपने निकट महत्त्व नहीं देता। कला सत्य है, शिव है और सुन्दर है। कला देश के उत्थान-पतन की भूमिका है। कला सृष्टि है, कला जीवन है। कला द्वारा संस्कृति का विकास होता है। कला में राष्ट्र के उत्कर्ष की कहानियाँ अंकित हैं। वह कला का आराधक है, वह विधायक भी है। वह अभिनव सृष्टि का स्रष्टा है। जीवन का कुशल चितेरा भी है। कलाकार विचारों में

बह रहा है। छेनी चल रही है—वह सब-कुछ भूल बैठा है। मूर्तियों में देखता है, स्वर्ग का सौंदर्य लहरा उठा है, गुलाब के दलों-सी-अरुणिमा मूर्तियों के कपोलों पर छाकर रह गयी है। बस, अब वह स्वर्ग में है। काश, इन्द्र उसके वैभव को एक बार देख पाते! सोचता है—निश्चय ही वे उसके भाग्य के प्रति ईर्षालु हो उठते।

मूर्तियाँ बन गईं।

मूर्ति-कलाकार ने उन्हें अपने कलाभवन में क्रम-क्रम से प्रतिष्ठित कर दिया। दूर, एक कोने में बैठ वह उन्हें क्रम-क्रम से देखने भी लगा।

एक क्षण पश्चात्!

एक ठहाका लगाया उसने—हा...हा...!—ईश्वर?—कुछ नहीं, मजाक, स्वप्न, कल्पना!

कलाकार के विशाल मस्तक पर स्वेद बिन्दु खिल उठे। उसके लम्बे, श्वेत केश वायु के हल्के स्पर्श से लहरा रहे हैं। उसके विशाल नेत्र मूर्तियों पर टिके हैं! वह केश गुच्छिकाएं देख रहा है, वह नेत्रों की भावभंगियों का अध्ययन कर रहा है, वह यह भी देख रहा है कि कुचों का उभार कितना मोहक सुन्दर और शिव है, कल्याणकारी भी है। कटि उसके मन को मुग्ध कर रही है। अरे, इन्द्रपुरी तो यहीं आ गईं। निश्चय ही, यह इन्द्र है। इन्द्र को अपना इन्द्रासन उसके लिए रिक्त करना ही होगा।

दो दिन तक लगातार मूर्तिकार अपनी कलासृष्टि पर मुग्ध रहा। अति प्रसन्नता के कारण उसे भोजन रुचिकर न लगा, निद्रा दूर हो गयी, संसार का वैभव उसे तुच्छ लगा! और अन्त में वह अपने ऊपर ही मुग्ध हो गया—वाह! वह मैं हूँ, जिसने एक पाषाण से जड़-पदार्थों में सौन्दर्य की सृष्टि कर दी है, जिसने इन्द्रपुरी की अप्सराओं को भूतल पर बुला लिया है, साधारण अंगुलि संकेत द्वारा!

कलाकार अपने कलाभवन में आता, मूर्तियों को देखता और अपने

मन-मयूर को आह्लाद से नर्तन करते देख बैठ जाता और ठगा-सा अपनी सौन्दर्य प्रिय कलासृष्टि के प्रति सपनों के महल गढ़ने लगता।

यह क्रम कई सप्ताह तक चलता रहा।

एक दिन अनायास ही उसके जी में आया—नहीं, यह कुछ भी नहीं है। ईश्वर ही सब कुछ है। वह तो ईश्वर के आगे हाथ पसारे हुए एक आकिञ्चन के समान है। वह इसकी दया पर अवलंबित है, आश्रित है! वह उसकी कृपा का निरा भिक्षुक है! वह उसके संकेतों पर नाचता है।

कारण—वह (ईश्वर) जीवनदाता है, जीवनदान ही कला है, वही सच्ची और अमर रचना है, वही सृष्टि है। किन्तु मूर्ति कलाकार तो इतना समर्थ नहीं—वह ईश्वर जैसा तेजोमय और महान् तो नहीं!

नहीं, सब कुछ गलत है, ऐसा सोचना भी मिथ्यापूर्ण है। ईश्वर का स्रष्टा तो मनुष्य है, कलाकार की पद-मर्यादा तो उससे भी ऊपर है, अलौकिक है! वह ईश्वर जैसी स्वप्न-कला से भी महान् कल्पना का विधायक है, स्रष्टा है!

मूर्तिकलाकार को उस रात नींद नहीं आयी। वह बाहर छत पर निद्रा की प्रतीक्षा कर रहा था और अपने स्वप्न को सत्य बनाने की चेष्टा में परेशान हो रहा था। आसमान ने असंख्य तारों को अपने आँचल में समेट रक्खा था, जो उसे देखते अंगारों की भाँति पीड़ा दे रहे थे। पूर्णिमा का चाँद उगा था, जो उसके बौड़मपन पर ठहाका लगाता-सा जान पड़ता था। शीतल वायु उसके कानों में कह रही थी—ईश्वर भले ही कल्पना हो, मनुष्य का स्वप्न हो, सृष्टि हो, किन्तु तुम्हारे-जैसे कलाकार की अपेक्षा कई गुना, हज़ार गुना, महान् है—और सच्चे अर्थ में वही एकमात्र कलाकार है, जो जड़ पदार्थों में चेतन्यता का संचार करता है, जिसकी इच्छा के इशारे पर संसार नृत्य कर रहा है।

कलाकार ने सुना—वातावरण उसकी मूर्खता पर ताल दे,

ठहाका मार हंस रहा है...हा...हा...हा...!...पागल....! कैसी विद्रूप हँसी है?

कितनी कठोर प्रवञ्चना है!

कैसी महान् चुनौती है—साधना के प्रति, कला की सेवा के प्रति!

छिः! छिः धिक्कार! —उसके कानों में आवाजें गूंजी।

वह उठ बैठा। उसके अंग-अंग में आग लग गयी। उसकी आँखें क्रोधाग्नि बरसाने लगीं—वह अपनी अग्नि की प्रखर आंच से झुलसने लगा! आह! वह इतना असमर्थ नहीं है! वह महान् है, कला का इतिहास महान् है, कलाकार की सृष्टि अमर है। कौन कहता है, कलाकार की सृष्टि जीवनहीन है! वह प्राणपूरित है (मूक नहीं), वह जीवनपूर्ण है। कलाकार अमर है उसकी सृष्टि युग-युग तक अमर है—कलासृष्टि जीवनहीन कब है?

निश्चय ही वह इन मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा करेगा और विश्व को साफ साफ़, स्पष्ट रूप से बतला देगा—कलाकार ईश्वर है: क्योंकि वह प्राण-प्रतिष्ठा भी करता है।

कलाकार ने देखा—सूर्य निकल रहा है और रात्रि जैसे निमेष मात्र में, पलक मारते व्यतीत हो गई है।

वह अपने कला-भवन में आ बैठा, जहाँ उसकी गढ़ी अनेक मूर्तियाँ क्रम-क्रम से सजी रखी थीं!

एक मूर्ति ने मूक वाणी में कहा—तुम कलाकार हो, क्षुद्र! मेरे निर्माणकर्ता? बड़ा गौरव होगा तुम्हें...हा....हा....हा...?

दूसरी कहने लगी—तुम ईश्वर बनने का दावा करते हो, शर्म नहीं आती...हा....हा...हा...?

तीसरी ने संकेत के स्वर में कहा—मैं मूक हूँ! मेरी सहायता नहीं कर सकते...धिक्कार...हा...हा...हा...।

चौथी रोती-सी बोली—पत्थर के अन्दर बन्द करके तुमने मुझे जड़ बना दिया ! ऐ हत्यारे...तेरा सर्वनाश हो। हा...हा...हा...।

कलाकार के प्रशस्त मस्तक पर पसीने की बूंदें छा गई हैं और टप-टप कर पृथ्वी पर गिर रही हैं। उसके बाल उलझ गये हैं और अंगुलियाँ उन्हीं में उलझी हैं। उसकी मुद्रा कठोर और विद्रूप है। वह यन्त्रवत् उन मूर्तियों के उपालम्भ, उपहास और अट्टहास को धैर्य से सुन रहा है।

वह प्राण-प्रतिष्ठा करेगा—करेगा, निश्चय !

कोमल कल्पनाओं और सुकुमार भावनाओं का भावुक चितेरा—मूर्ति कलाकार – बैठा-बैठा उन पाषाण-परियों, राजकिन्नरियों को अटूट धैर्य और निस्सीम कलादृष्टि से देख रहा है।

अहा ! काश, तुममें प्राण होते !

ओह ! काश, तुम थिरक कर नृत्य करतीं और मैं वंशीरव...

कलाकार अपनी सम्पूर्ण मनःशक्ति लगाकर उन मूर्तियों—पाषाण प्रतिमाओं—की ओर देखने लगा।

बहुत खुश ! बहुत अच्छे !! वाह, यही मैं चाहता था, यही मैं सोचता था, यही मैं कहता था—कलाकार ईश्वर है, वह प्राण-दान कर सकता है।

प्रतिमाएं क्रम-क्रम से, सजीव हो उठीं और अनेक वाद्ययन्त्रों की स्वरलहरियों के साथ उनके नूपुर गुंजित होने लगे—टुन, टुन, छुन, छुन छुननु···छुननु !

अब कलाकार के चारों ओर नृत्य हो रहा है और उसका स्वप्न साकार मूर्तिवत् है। वह, इधर मेनका नृत्य कर रही है, पीठ पीछे मत्स्य-गन्धा और उर्वशी······और इन्द्रप्रिया भी·····।

हा...हा...हा...हा...हा...हा...हा...हा—कलाकार जैसे विक्षिप्ता-

वस्था में हँस रहा हो, मैंने पा लिया, मैंने जीवन डाल दिया, मेरी प्रतिमाएं ...

इन्द्र ! तुझे यहाँ स्थान नहीं मिल सकता, तू यहाँ से चल, निकल जा, कामी ! कलाकार सौन्दर्यदाह में अपनी कला को निखारता है, प्रस्फुटित करता है, वह सौन्दर्य-भोगी नहीं ! नहीं, नहीं, चल तू यहाँ से। तू इस तपोवन से पावन, पवित्र कलाभवन को भी शासनाभवन इन्द्रपुरी बनाने का साहस करेगा ? मेरे जीवित रहते नहीं !

बस, बस—एक क्षण—ठहरो, ठहरो मैं कहता हूँ, ठहरो ! सुनो—यह कैसा मर्मान्तक स्वर है ? कौन पुकार रहा है ? किसे मेरी आवश्यकता...?

कलाकार ने अपने कानों में सुना—कलाकार; प्राण-प्रतिष्ठा।

उसने देखा—ओह ! मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ ? अरे ! यह देश में महान् अकाल पड़ गया है ? —लाशों का, कोटि-कोटि लाशों का—अन्न के अभाव में—उस सुन्दर शस्य श्यामल प्रांत में अम्बार लग गया है ?

छिः छिः पामर कलाकार !

और यहाँ यह कैसा दर्द से भरा कातर स्वर—कलाकार ! प्राण-दान ....ओ कलाकार।

उसने आँखें फेरीं। देखा—अरे, उधर यह सब क्या हो रहा है ? इन्सान-इन्सान का गला काट रहा है, सर उतार रहा है, अन्न जला रहा है ? आग लगा रहा है अपने घरों में ? वह रहेगा कहाँ ? क्या खाकर जीवित रहेगा ? यह पागलपन कैसा ?

धिक्कार...धिक्कार कलाकार ! तेरी कला कुंठित हो गई है। वह पागल हो रहा है। यह देखकर हैरान है वह।

बचाओ, मुझे बचाओ, प्राणदीक्षा कलाकार ! —सुदूर प्रांत से आवाज आई।

कलाकार ने देखा—उधर स्त्रियों का अपहरण हो रहा है। उनके साथ बल-प्रयोग हो रहा है। उनकी असमत, इज्जत लुट रही है!

उसका रक्त खौल उठा।—नारी के इस महाविनाश से सृष्टि की कैसी अधोगति होगी?

ओ मेरे जीवनदाता कलाकार! प्राण-प्रतिष्ठा!

कलाकार हैरान हो उठा। उसने देखा—नारियों का एक विशाल समूह जिनकी गोद में नन्हें—गुलाव के पुष्प-जैसे कोमल—शिशु हैं और माताओं के सुर्ख स्तनों को तेज पैने दाँतों से नोच-घसोट रहे हैं— बड़ी बेरहमी के साथ! दूध नहीं निकलता। वह नारी वर्ग सूखी लकड़ियों की प्रदर्शनी मात्र हैं—रूप-रस, गंध और कला-विहीन! कला-पूर्ण नारी का यह कैसा विचित्र विलक्षण स्वरूप है? सृष्टि और पालन की जननी का यह कैसा रौद्र संगठन है? समाज का अस्तित्व कितने क्षण कायम रह सकता है?

प्राण दो! जीवन दो! कलाकार···ओ······

कलाकार पागल तो नहीं हो गया है?—नहीं, नहीं!

यही सत्य है, यही यथार्थ है, यही उसकी कला की सदुपयोगिता है!

उसने दृष्टि घुमाई। देखा —समाज के मोटे-मोटे जन्तु सर्व-साधारण का रक्तपान कर उन्हें निकम्मा बना चुके हैं। वे नंगे हैं, भूखे हैं और शरीर उनके रक्तहीन! नेत्र अन्दर घुस गये हैं, पेट यद्यपि सूख गया है, किन्तु कुछ बड़ा होकर बाहर निकल आया है, जैसे वे लम्बे अरसे के मरीज हों! लगता है, कंकालों की नयी बस्ती बसाई गई है।

अब चारों ओर से एक साथ आकाश को फाड़ देनेवाली आवाजें आने लगीं। उसे ऐसा जान पड़ा—धरती हिल उठी है, आकाश उसके सर पर गिरना चाहता है और एक महा भयंकर तूफान विनाशकारी अग्नि की लपटों को साथ लिए उसे निगलने को आतुर है। कला,

समाज, जीवन, सौंदर्य, सृष्टि और वह स्वयं भी उसी महाविनाश में स्वाहा हो जायगा।

रे कलाकार और तेरा कलाधर्म—प्राण-प्रतिष्ठा! कितना दुस्तर कार्य है और कितना दुर्गम पथ है! कितनी बीहड़ मंजिल है और कितने भयंकर काँटे हैं!

तू चल! अग्नि से खेल! तुझे कलाधर्म का निर्वाह करना ही होगा?

कलाकार क्रोध से लाल-पीला हो उठा!

उसने हथौड़ा उठाया और धड़ाम्—पूरी शक्ति के साथ वह एक प्रतिमा पर जा बैठा।

वह बिखर पड़ी, चूर-चूर हो गयी।

हा हा हा हा—ठीक? नहीं चाहिए, आवश्यकता नहीं!

फिर दूसरी,

फिर तीसरी,

और फिर चौथी प्रतिमा भी चूर-चूर हो कला-भवन में बिखर गयी।

कलाकार ने कला-भवन की क्रम-क्रम से, बारी-बारी से प्रत्येक वस्तु नष्ट कर दी। कुछ नहीं चाहिए, यह भी नहीं चाहिए, वह भी नहीं चाहिए, यह भी व्यर्थ, वह भी व्यर्थ। इसे भी नष्ट कर दो···उसे भी······ ·····

हा···हा···हा···हा···ठहाका लगाया उसने!

वह शान्तभाव से, खड़ा हुआ। अपने कला भवन में एक क्षण के लिए चारों ओर सिंह-दृष्टि डाली। अपने आपसे प्रश्न किया—जिस देश की—मानवता मर रही हो वहाँ अब भी कुछ शेष रहेगा?—
नहीं, नहीं!

कला के लिए भी वहाँ स्थान मिल सकता है?

श्मशान के लिए कला की उपयोगिता नहीं!

ऐसे नारकीय, जघन्य वातावरण में भी क्या कलाकार जीवित रह सकता है?

शायद नहीं !

तब उसकी, उसकी ललित कला की इस देश को आवश्यकता नहीं !

कला और कलाकार हीन, देश तेरा विनाश निकट है; तू संभल जा !

कलाकार का सम्पूर्ण शरीर पसीने से तर है, जैसे उसने अभी-अभी स्नान किया है। उसकी मानसिक अवस्था डाँवाडोल हो रही है। उसके शरीर में अग्नि की ताप है। वह झुलस रहा है, जला जा रहा है।

बगल के दर्पण पर उसकी दृष्टि जा टिकी। अजीब शकल बन गई है उसकी—भोंड़ी।

यही उसकी मुखाकृति है ?

दर्पण की आवश्यकता नहीं —सम्पूर्ण देश की कुरूपता-जैसे उसकी मुखाकृति में केन्द्रित हो गई है। नहीं चाहिए दर्पण उसे—नहीं !

हथौड़ा दर्पण पर जा गिरा।

छन्न···दर्पण चूर-चूर हो बिखर गया। अब कुरूपता मिट गयी !

किन्तु नहीं मानव-हृदय की कुरूपता अभी चूर-चूर कहाँ हुई ? समाज की, देश की संस्कृति की कुरूपता अभी कहाँ चूर-चूर हुई ? घोर स्वार्थ और अन्याय की कुरूपता अभी कहाँ मर सकी ?

कलाकार ने कला-भवन की प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर दिया और दीर्घ निश्वास ली। उसे जान पड़ा, मृत्यु का चंगुल उसके सर पर है।

यह स्तव संगीत कैसा ?

यह सुदूर प्रांत से मोहक स्वर लहरी का अभिनन्दन कैसा ?

यह पलक-पाँवड़े—उसके स्वर के लिए—धरती से स्वर्ग तक किसने बिछा दिये हैं ?

यह नृत्य कितना सुन्दर है ?

एक साथ अनेक ध्वनियाँ आईं—स्वागत कलाकार, अभिनन्दन !

आओ! तुम्हारे लिए, तुम्हारी कला के लिए अब वहाँ स्थान नहीं है। वह निशाचर लोक है, यह देव-लोक है। यहाँ देवता निवास करते हैं। यहाँ मानव-धर्म का पालन होता है। आओ, आओ अब विलम्ब न करो; कलाकार यह लोक तुम्हें पाकर कृतार्थ होगा! यहाँ देवसुलभ साधन तुम्हारी प्रतीक्षा में विकल हैं।

नहीं, नहीं! मैं वहाँ नहीं जाऊंगा। कलाकार पलायनवादी नहीं। वह अपनी कला द्वारा इस लोक में प्राण-प्रतिष्ठा करेगा। मृतकों को जीवन देगा! पाषाण में भी प्राण फूंकने की चेष्टा करेगा। इस निशाचर को स्वर्ग बनाकर अपनी कला को सार्थक करेगा।

उसने कला-भवन के द्वार बन्द कर लिए।

एक विचित्र पागलपन के साथ, एक गहरी तन्मयता के साथ व अपने कार्य में जुट गया। अब वह सब कुछ भूल गया है।

पत्नी ने आवाज दी—भोजन ले आयी हूँ।

कोई उत्तर नहीं। हाँ, खुट, खुट की आवाज अन्दर से आ रही है।

× × ×

दूसरे दिन!

पत्नी ने आवाज दी—अरे एक क्षण के लिए खोल दो द्वार।

खट, खट, खुट, खुट—छेनी और हथौड़ी अविराम गति से चल रही है। कोई सुननेवाला नहीं।

तीसरे दिन! पत्नी रो पड़ी। बोली—आज तीसरा दिन भी बीत रहा है। बहुत कमजोर हो गए होंगे। पहले भोजन कर लो। मैं कुछ न बोलूंगी।

कोई उत्तर नहीं—हाँ, अन्दर से छेनी-हथौड़ी चलने की गति का आभास मिलता है।

इसी प्रकार एक सप्ताह व्यतीत हो गया। कलाकार अपने कला-भवन से बाहर न निकला। वह भोजन और जल के बिना कैसे जीवित है, यह उसकी पत्नी भी नहीं समझ पा रही है। रात-रात भर, अवि-

शायद नहीं !

तब उसकी, उसकी ललित कला की इस देश को आवश्यकता नहीं !

कला और कलाकार हीन, देश तेरा विनाश निकट है; तू संभल जा !

कलाकार का सम्पूर्ण शरीर पसीने से तर है, जैसे उसने अभी-अभी स्नान किया है। उसकी मानसिक अवस्था डाँवाडोल हो रही है। उसके शरीर में अग्नि की ताप है। वह झुलस रहा है, जला जा रहा है।

बगल के दर्पण पर उसकी दृष्टि जा टिकी। अजीब शकल बन गई है उसकी—भोंड़ी।

यही उसकी मुखाकृति है ?

दर्पण की आवश्यकता नहीं —सम्पूर्ण देश की कुरूपता-जैसे उसकी मुखाकृति में केन्द्रित हो गई है। नहीं चाहिए दर्पण उसे—नहीं !

हथौड़ा दर्पण पर जा गिरा।

छन्न···दर्पण चूर-चूर हो बिखर गया। अब कुरूपता मिट गयी !

किन्तु नहीं मानव-हृदय की कुरूपता अभी चूर-चूर कहाँ हुई ! समाज की, देश की संस्कृति की कुरूपता अभी कहाँ चूर-चूर हुई ? घोर स्वार्थ और अन्याय की कुरूपता अभी कहाँ मर सकी ?

कलाकार ने कला-भवन की प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर दिया और दीर्घ निश्वास ली। उसे जान पड़ा, मृत्यु का चंगुल उसके सर पर है।

यह स्तव संगीत कैसा ?

यह सुदूर प्रांत से मोहक स्वर लहरी का अभिनन्दन कैसा ?

यह पलक-पाँवड़े—उसके स्वर के लिए—धरती से स्वर्ग तक किसने बिछा दिये हैं ?

यह नृत्य कितना सुन्दर है ?

एक साथ अनेक ध्वनियाँ आईं—स्वागत कलाकार, अभिनन्दन !

आओ ! तुम्हारे लिए, तुम्हारी कला के लिए अब वहाँ स्थान नहीं है । वह निशाचर लोक है, यह देव-लोक है । यहाँ देवता निवास करते हैं। यहाँ मानव-धर्म का पालन होता है। आओ, आओ अब विलम्ब न करो; कलाकार यह लोक तुम्हें पाकर कृतार्थ होगा ! यहाँ देवसुलभ साधन तुम्हारी प्रतीक्षा में विकल है ।

नहीं, नहीं ! मैं वहाँ नहीं जाऊंगा। कलाकार पलायनवादी नहीं। वह अपनी कला द्वारा इस लोक में प्राण-प्रतिष्ठा करेगा । मृतकों को जीवन देगा ! पाषाण में भी प्राण फूंकने की चेष्टा करेगा। इस निशाचर को स्वर्ग बनाकर अपनी कला को सार्थक करेगा।

उसने कला-भवन के द्वार बन्द कर लिए।

एक विचित्र पागलपन के साथ, एक गहरी तन्मयता के साथ व अपने कार्य में जुट गया। अब वह सब कुछ भूल गया है।

पत्नी ने आवाज दी—भोजन ले आयी हूँ।

कोई उत्तर नहीं। हाँ, खुट, खुट की आवाज अन्दर से आ रही है।

× × ×

दूसरे दिन !

पत्नी ने आवाज दी—अरे एक क्षण के लिए खोल दो द्वार।

खट, खट, खुट, खुट—छेनी और हथौड़ी अविराम गति से चल रही है। कोई सुननेवाला नहीं।

तीसरे दिन ! पत्नी रो पड़ी। बोली—आज तीसरा दिन भी बीत रहा है। बहुत कमजोर हो गए होंगे। पहले भोजन कर लो । मैं कुछ न बोलूंगी।

कोई उत्तर नहीं—हाँ, अन्दर से छेनी-हथौड़ी चलने की गति का आभास मिलता है।

इसी प्रकार एक सप्ताह व्यतीत हो गया। कलाकार अपने कला-भवन से बाहर न निकला। वह भोजन और जल के बिना कैसे जीवित है, यह उसकी पत्नी भी नहीं समझ पा रही है। रात-रात भर, अवि-

राम गति से उसकी छेनी और हथौड़ी चलती रही है। और केवल एक स्वर···खुट···खुट···कुट···कुट···कुट··· ! नींद उसे छोड़ गयी, विश्राम उसका शत्रु बन गया, पत्नी का मोह और उसका प्यार उसे पराभूत न कर सका।

आठवें दिन !

पत्नी जो दरवाजे के निकट से खुट...खुट की आवाज सुन रही थी, अनायास ही एक अट्टहास सुनकर चौंक पड़ी। ...हा...हा...हा हा...हा...और यह अट्टहास लगभग तीन चार मिनट चलता रहा।

आवाज आयी—काम पूरा हो गया ! यदि ईश्वर कल्पना है, जिसके संकेत पर वृक्षों की टहनियाँ डोलती हैं, तो निश्चय ही मैं महान् ईश्वर हूँ......मैं ईश्वर हूँ......ईश्वर......मेरी मुट्ठी में सैकड़ों कल्पना रूपी ईश्वर मूक, शान्त बन्दी बने पड़े हैं...मैं ईश्वर से भी ऊपर हूँ......मैं कलाकार...हा...हा...हा।

कलाकार को लगा—उसका सर फटने को है। आकाश टुकड़े-टुकड़े होकर उस पर गिरने को है। महा भयंकर काली घटायें इतनी वर्षा करेंगी, संसार डूब जायगा और वह सामने सागर की हहराती दहाड़ती, विस्फूर्जन करती हुई लहरें उसे निगलने के लिए, आतुरभाव से, दौड़ी चली आ रही हैं। विषैले सर्पों का एक झुण्ड अपने फन लपलपाता हुआ उसे डसने के लिए उद्यत है। अरे ! और यह, उस ओर से, ज्वालामुखी, की विनाशकारी लीला के साथ तूफान भी उसे निगलने के लिए इच्छुक है।

यह महाप्रलय कैसा ? यह ज्वालामुखी का विस्फोट कैसा ? क्यों, और ..किसलिए...?

एक बार आकाश में ऐसी गड़गड़ाहट हुई कि धरती हिल उठी। काली घटाओं के बीच से कड़कड़...कड़क...करके, बिजली चमकी और

बस......! कलाकार ने कहा—इस ललकार, इस हुँकार का मैं स्वागत करता हूँ।

और पत्नी सोच रही है—आवाज भी बन्द हो गई है.......अट्टहास भी···क्या पागल हो गए?

उसने दरवाजा खटखटाया—व्यर्थ!

अन्दर घुसने के सभी प्रयत्न किए—व्यर्थ!

फिर दरवाजे तोड़े गये।

वह चीत्कार कर उठी। हाय...हाय कर कलाकार के विशाल वक्ष से लिपट गयी, उसकी चिरनिद्रा को भंग करने का असफल प्रयास करने के लिए!

प्रभात होने के पूर्व ही कलाभवन के चारों ओर—और अन्दर भी—लाखों की संख्या में लोग एकत्र हो गए! जनता का सागर लहरा उठा।

लोग कह रहे थे—देश के मानचित्र पर हमारी कुरूपताओं का कितनी-कितनी अनोखी सजीवता के साथ मर्मस्पर्शी ढंग से, चित्रण हुआ है? हाय, हम ऐसे पतित, घृणित हो गए हैं? हम भाई-भाई की अंतड़ियों को भी अपने फौलादी पंजे से निकाल कर खा रहे हैं। स्वार्थ के लिए दूसरे का रक्त पिये जा रहे हैं? क्या हमीं वह हैं, जिसने देश को महाश्मशान बना दिया है?

बीच-बीच में भयंकर रुदन का स्वर फूट पड़ता था।

कुछ लोग फुसफुस कर रहे हैं—अब भी हम जीवित हैं? अब भी अपने को इन्सान कहने का दावा करते हैं? मानचित्र पर आगजनी, बलात्कार, निष्कासन के जो चित्र बनाए गए हैं, क्या उन्हें देखकर हमारी आत्मा ग्लानि से चीत्कार नहीं कर उठती? कब तक हम अपने को सभ्य कहने का दम्भ भरते रहेंगे? हमारी कुरूपताएं ही कलाकार की मृत्यु का कारण बनीं?

क्या यही हमारे देश का वास्तविक चित्र है ? क्या यही हमारा घृणित स्वरूप है ?......हा ? हमारी यथार्थ दशा और तस्वीर क्या यही है ? ऐसी ही है ? अब भी हम जीवित रहने का मोह नहीं त्यागते ? लानत...शर्म ......धिक्कार......एक ओर से लोग कहते सुने गये।

एक व्यक्ति फूट-फूटकर रो रहा था और अपने बगल में खड़े मित्र से कह रहा था—हमारी हैवानियत का उपहार ले वह इन्सान तो चल बसा....ओ...फ्फो....ह ! छिः-छिः हम पिशाच बन गए ?



: ५ :

विष का घूँट

जाड़े की आधी रात बीत चुकी है और धनियाँ की आँखें बजरंगी की बाट जोहते-जोहते पथरा गयी हैं। आख़िर ऐसा भी आदमी क्या ? न इसकी बात का ठीक, न इसकी जबान का भरोसा। कहेगा कुछ, करेगा कुछ ! धनियाँ सोचती है—आख़िर मुझे भगवान् ने औरत जात ही क्यों बनाया ? बनाना ही था तो मर्द बनाते, खुलकर खेलती तो इस दुनिया में ! न आदमी के लिये बन्धन है, न मर्यादा है और न बुराई करने की रोक-टोक ! सब कुछ हमी लोगों के लिये है। जानवरों की तरह जो कुछ बची-खुची है, घास-पात, मिल जाय, खाकर, अत्याचार का घूँट पीकर सो रहो। जबान पर मर्यादा का ताला लगा दिया गया है। वह कुढ़ रही थी। आज खुलकर निपट लेने की बात भी उसके जी में उठ रही थी।

अभी-अभी शाम को उसके घर हरिप्रसाद आया था। उसका रूप-रंग, चेहरा-मोहरा, और पहनावा-ओढ़ावा बिलकुल बदल गया है। पहले से कहीं ज्यादा वह अब आदमी बन गया है। और एक धनियाँ का आदमी बजरंगी है कि दिन-दिन रसातल को पहुँचता जाता है। कभी खाने को है तो कपड़े नहीं हैं, और कभी खाना, कपड़ा है तो तलब के आगे बच्चे के इलाज के लिए पैसे नहीं हैं। अब न चलेगा, बहुत हो चुका, बहुत !

धनियाँ आज दिन भर पुलकित रही और सन्ध्या तक अपनी खुशी के बाँध को संभाले रही; लेकिन ज्यों-ज्यों जाड़े की रात गहरी होकर ठण्ड

से भींगने लगी, उसके माथे पर बल पड़ने लगे और त्यौरियाँ क्रोध से चढ़ने लगीं। फिर पिछले अनेक वर्षों का क्रोध एकत्र होकर उसके मन-प्राण को गहरी पीड़ा देने लगा। रोज बजरंगी धनियाँ से वादा करता है—अब से आगे यह न करूंगा, वह न करूंगा, उस फ़न से अब दूर रहूँगा, थोड़ी-सी जिन्दगी जो ख़राब हो गयी है, उसे ठीक कर लूँगा और कलङ्क धोकर आदमी बन जाऊँगा। लेकिन खूब आदमी बन रहा है, अच्छी तरक्की कर रहा है! पुरखे अब जरूर तर जायेंगे!

धनियाँ का चित्त ठिकाने नहीं है। उसकी लालसाओं, अभिलाषाओं और सोने के स्वप्नों का संसार नष्ट हो गया। सन्ध्या तक तो वह शान्त रही किसी कदर, पर अब...?

हरिप्रसाद भी कौन बड़ा लायक़ था? माँ-बाप से रोज ही 'हाय-हाय' करता था, लड़ता था और गाली तो उसकी कुबेर की सम्पदा थी। बात-बात पर लाठी चलाना उसका पेशा था। जब बाप ने ऊबकर घर से निकाल दिया तो एक झोपड़ी में रहने लगा। दो-चार मिट्टी के बर्तन रख लिये और गिरिस्ती में था ही क्या उसके पास? बाप ने एक भी पिल्ला तो नहीं दिया। जब दाने-दाने को मोहताज हो गया तो छैल-गुण्डई छोड़ मजदूरी करने लगा और सर के पट्टों को छोटा करा दिया। लेकिन बीड़ी, चर्स और बोतल की हिस तब भी नहीं गयी। आठ आने रोज की मजदूरी में होता ही क्या था? किसी तरह कुछ दिन कटे, पर कागज की बोझिल नाव अच्छी आदतों के तूफान के बीच उसे मँझधार में ले ही तो डूबी।

धनियाँ के मस्तिष्क में जाने क्या-क्या बातें आ-जा रही हैं। वह अजीब बन गयी है। धूमिल दीपक के टिमटिमाते प्रकाश में, वस्त्रों पर ही दृष्टि डाली, सभी एक सिरे से गन्दे हैं और टुकड़े टुकड़े हो गये हैं। जो कपड़े के कूपन मिले थे, उन्हें भी बेचकर पुरखों का तर्पण कर आया वह! अरे उसे तनिक भी दया न आई इस नन्हें बच्चे पर जो जाड़े की

रात में रजाई के बिना लेटा सिकुड़ रहा है, सिहर रहा है और काँप रहा है ? अगर धनियां यह टाट तीन आने का न ले आती तो उसे ज़रूर निमोनिया हो जाता ! सरकार ऐसे कसाइयों को दण्ड भी नहीं देती, कानून भी नहीं बनाती कि ये आदमी तो बन जायं ?

हाँ, तो अभाव की प्रतिक्रिया ने फिर धनियाँ के सामने हरिप्रसाद के पिछले जीवन का चित्र लाकर खड़ा कर दिया। स्मृतियों की रील उसके सामने घूमने लगी।

हरिप्रसाद तब रात-दिन नशे में चूर रहने लगा। जब बोतल खरीदने के पैसे पल्ले न रहे तो दोस्तों की खुसियाबरदारी करने लगा, गिड़गिड़ाने लगा। हेकड़ी और ऐंठ जाती रही। अखड़पन की जगह सहज मित्रता आ गयी। चिलमें भरता और अड्डों पर, ठेकों पर डटा रहता। किसी ने नमकीन मंगाया, दोड़कर ले आया। किसी ने पान-सिगरेट या कलाकन्द मंगाया, कुत्ते की चाल गया और बिल्ली की चाल लेकर आया। अगर उसे तनख्वाह मिलती तो अपने मालिक का इतनी वफ़ादारी के साथ शायद ही वह काम करता, लेकिन नहीं; उसे तो ले डूबा, उसका अपना चस्का ! पिछले जन्म काम किये थे बड़े उत्तम और इस जन्म बनना चाहता था जंगी लाट ! आंखें भी उसकी ठीक न थीं। औरतों को घूर-घूर देखता बड़ी अदा से। लगता, सब उसकी जोरू ही तो हैं। जवानी क्या आई थी, सबकी इज्जत बटोरने के लिये। सभी औरतों को भाभी बनाता; मूंछों पर ताव देता और शोहदेपन के गाने गाता—"अंखियाँ लड़ाय के; जिया भरमाय के; चले नहीं जाना...हो...ओ...ओ..." और जब कभी गलती से कोई उसे देख लेती तो एक आँख बन्दकर उचक्कों की हंसी हंस देता; अट्टहास करता; भले ही आसमान टूट पड़े उस पर ! घर में अपने लिये दाने न थे लेकिन राह चलते जबान से यही निकलता—'प्रेमनगर में बनाऊंगा घर मैं तज के सब संसार।' मोहल्ले की औरतें उससे भय खाने लगी थीं। कभी हाथ छोड़ देने की खबरें मिली थीं।

इतना ही नहीं, एक दिन रामहरख की नौजवान बहू घर से कुछ खरीदने बाहर जा रही थी; हरिप्रसाद ने उसे देख लिया और लोभी भंवरे की तरह क्षुधा-विक्षिप्त पीछे लग गया। कभी सीटी बजाता, कभी 'हाय रे वाह मेरी लैली' कह वह उसका रास्ता रोकता।

रामहरख की बहू सकुचाई पर क्रोध को न रोक सकी। बोली—'क्या है रे जलमुँहे।'

'तुम्हारी गाली में भी शक्कर की सी मिठास है।'

'क्या कुछ लेगा ?'

'चरनों की धूल।'

तब, वहीं, हरिप्रसाद की उसने खबर ली। मरम्मत की गयी, गोकि आगे चलकर पंचों ने पंचायत में यही फैसला दिया कि हरिप्रसाद से रामहरख की बहू का जरूर ही अनुचित सम्बन्ध था; वरना यह वारदात न होती। कई महीने रामहरख का जात-बिरादरी ने हुक्का-पानी बन्द कर रखा। जब उसने कच्ची-पक्की दे दी और जुर्माने के पचास रुपये पंचों की पंचायत में नकद दिये; तब उसका हुक्का-पानी खोला गया। लेकिन हरिप्रसाद लज्जित होने के बजाय इससे प्रसन्न था और यही कहता फिरता था कि जो कुछ फैसला हुआ, ठीक हुआ; दुनिया अन्धी नहीं है, जो सही-ग़लती न समझ सके! वह निपट अकेला, एकाकी था। उसे दीन-दुनिया, हुक्का-पानी के बन्द होने, न होने की कोई परवाह न थी। फिर बहुत दिनों तक वह रामहरख की बहू के मन को जीतने के सपने देखता रहा, अपना घर बसाने की बहुत चेष्टाएं की, किन्तु सफल-मनोरथ न हो सका।

धनियां हरिप्रसाद के जीवन की तस्वीर देख मुस्करा उठी। सोचने लगी—कैसा विचित्र आदमी है ! फिर दिन बीतने लगे और हरिप्रसाद नशेबाजी और पियक्कड़ों के चक्कर में पड़ गया। जब देखो तब वह ताड़ीखाने, भंग-भण्डार, चर्स के ठेके और शराबगद्दी के चक्कर लगा

रहा है। जब खर्च पूरा न पड़ा; तब एक दिन स्टेशन के जेबमारों के गोल में जा मिला। कई बार उसे अभूतपूर्व सफलता मिली, किन्तु एक बार धर लिया गया और टिकट तथा रुपये उसके पास मिले। पहला अपराध होने के कारण हरिप्रसाद को तीन मास की सख्त सजा हो गयी। वह जेल गया और काट कर जब बाहर आया तो फौज में भरती हो गया। अब ठीक रास्ते पर आ गया है। आदमी बन गया है। दुनियादारी जान गया है, पैसे को पहिचानता है, लेकिन घर बसाने के लिये हाथ-पैर फड़फड़ाता है।

एकाएक बच्चा कुनमुनाया। धनियां उठी तो उसका अंग-अंग दुखने लगा। अब भी उसके शरीर में कल की मार के निशान उभरे पड़े हैं। कसाई की तरह उसने धनियाँ की खबर ली थी। बात कुछ भी नहीं थी, लेकिन वह मिल से झुंझलाया हुआ आया था, और आते ही उसने कह दिया था—भूख लगी है—कुछ खाने को दे!

उत्तर दिया था धनियाँ ने—खाने को अंगार है! लाया ही कब क्या था, जो...

बस मरम्मत। धनियाँ के बाल पकड़कर घसीट-घसीट उसने खूब पीटा और पीने चला गया।

आज इस समय भी उसके हाथ के निशान खून से सने लगते हैं। उसने बच्चे को संभाला और अंचल से लगा लिया। जी में उसके आया, यह भी उसके पाप का बोझ है! बच्चा 'कें-कें' लगाये था। चुप होता ही न था। वह झुंझलायी। झकझोरा। बोली—पी ले सीधे; नहीं हाँ तो...!...मर भी नहीं जाता ऐसी यातना से! मैं क्या करूं, वह पापी जब कपड़े लाये, तब न तुझे पहना दूँ! अब 'चें-चें' क्यों लगाये है? क्या मैं कमाने तेरे लिये जाऊंगी?

बेचारे बच्चे को कुछ भी पता नहीं कि उसके कष्ट का दायित्व पिता पर है, माता पर है या स्वयं उसी पर है। वह दुग्धपान में लग गया।

धनियाँ का मन उखड़ा-उखड़ा है। उसका हृदय बजरंगी के साथ भर गया है। अब यह जिन्दगी उसके साथ वह नहीं काटना चाहती। उसके जी में भारी विद्रोह है, जो किसी समय इस परिवार को महाश्मशान बना सकता है। उसे याद हो आया—पिछले कई दिनों से हरिप्रसाद उसकी चेरिया-बिनती कर रहा है। कहता है—इस हरामी के पिल्ले के पीछे तू अपनी जिन्दगी को क्यों खपाये देती है धनियाँ? तेरा सोने-सा रूप और भरी जवानी क्या तकलीफ उठाने के लिए बनाई गई है? चल तू चल, मेरे साथ! देख मैं तुझे कैसे रखता हूँ! देवी की तरह तेरी सेवा करूंगा। तेरी सन्दूक कपड़े से भर दूंगा और बटुए में नोट के नोट पड़े रहेंगे। सच धनियाँ, तू इस राक्षस का पल्ला छोड़।

रात बीत रही है। सर्दी सजग है। धनियाँ के अन्दर उचित-अनुचित का ज्वार-भाटा आया है और उसका अनुताप-दग्ध हृदय कुंठित हो रहा है।

इसी बीच बजरंगी धीरे से घर के अन्दर घुसा। देखा, अभी वह बैठी जाग रही है।

पूछा—'आज नींद नहीं आयी क्या?'

'बड़े अच्छे लच्छन ही हैं न?'

'रोज तो सो जाती थी तू। आज क्या हो गया?'

'अपनी जबान बन्द कर! महीनों से तुझे समझाती आई हूँ पर तूने एक न सुनी। अपनी जिन्दगी तो अकारथ कर दी, मेरी के पीछे पड़ा है।'

'अरी, चुड़ेल क्या तू जज-बलिस्टर बनती? अपनी औकात समझकर बात कर!'

'तू रहा कहाँ इतनी रात?'

'सेठ जी के यहाँ?'

'उनके क्या पुटपुटी देता था?'

'अरी नेहरू जी आये थे। उनका लिच्चर था। सेठ जी ने सभा के इन्तजाम में हम लोगों को रोक रखा था।'

'क्या दे गये नेहरू जी तुझे? जब देखो तब नेहरू जी; गाँधी जी, नेता जी…! अरे, तुझे इनसे वास्ता; मतलब?'

'तू तो है नासमझ! तुझे पता है, नेताओं ने क्या कर दिया?'

'गरीबों की रोटियाँ छीनीं, हड़तालें कराईं! अपने पेट भरते हैं, दावत खाते हैं और हम लोगों की सेवा लेते हैं! किसी दिन रोटी दे गये? बच्चों को कपड़ा पहना गये? देख न मर तो रहा है यह!'

'इन्हीं की बदौलत मिला है स्वराज्य!'

'भाड़ में जाय ऐसा सुराज जहाँ गरीबों को दो रोटियाँ भी न मिलें! अंग्रेजी राज ही अच्छा था कि तौल-तौलकर अन्न तो न मिलता था। एक वक्त चैन की रोटी तो मिल जाती थी।'

'अच्छा, अब ज्यादा बात न कर। क्या समझे इन बातों को तू!'

'हाँ, तू तो विलायत पास किये अभी चला आ रहा है न? और तनख्वाह क्या हुई!'

'तनख्वाह मिलती ही क्या थी? इक्कीस दिन हड़ताल रही। तीन रुपये जुरमाने के कट गये। दो रुपये पार्टीवाले चन्दा ले गये और पक्की रसीद दे गये। बाकी बचा क्या खाक? जो बचा भी उसको पी लिया—आज रात-दिन मेहनत पड़ी। न पीता, सच धनियाँ मर जाता!'

'अब मैं क्या खाऊं? इस बच्चे को क्या खिलाऊं?'

बजरंगी चुप था। फिर खुमार के आवेग में परवशता की हँसी हंस पड़ा। दाँत निकाल दिये।

धनियाँ बिगड़ उठी। बोली—'हत्यारे, अपने मजा के लिए तू मेरी और बच्चों की जान लेगा? तुझे मौत भी नहीं आती, चाण्डाल?'

उसका इतना कहना था कि बजरंगी का पौरुख जाग पड़ा! वह एक इलाज जानता था। उसने सोटा उठा लिया और उसके बाल पकड़कर

धान की तरह उसे कूटने लगा। कहता जाता था—ले, तू अपनी खुराक ले! और लेगी और खायेगी?

और धनियाँ चीख-चीख कर रो रही थी।

नाटक समाप्त हुआ। दोनों अपनी-अपनी ओर जा पड़े।

० ० ०

सुबह जब मिल का भोंपू बजा, बजरंगी उठा और धनियाँ से कुछ न बोला। हाथ-मुंह धोकर काम पर चल पड़ा? धनियाँ को लगा, इस जीवन से तो मृत्यु ही भली!

धनियाँ आग के निकट बैठी अपने अंग सेंक रही थी। उसकी आँख अपनी दिनचर्या के दुःखभार से भींगी थीं। कल की घटना की रील उसके मस्तिष्क में घूम रही थी और वह व्यथित भाव से कभी बच्चे को देखती और कभी दरिद्रतापूर्ण घर को देख सिहर उठती। सोचती—नहीं अब अधिक नहीं चल सकता! बड़ी मार खाई। अब अधिक······।

इसी बीच हरिप्रसाद आ धमका। उसकी जुल्फें सँवारी थीं। गालों में पान की गिलौड़ियाँ। बदन पर फौजी पोशाक। मुँह में सिगरेट लगी थी। बोला हरिप्रसाद—कहा था न। अब इस जालिम का साथ छोड़ दे तू। जाने कब आयेगी अक्ल तेरे? ले, तेरे लिए छेना के रसगुल्ले और कला-कन्द की बरफी लाया हूँ। जल्दी खाले धनियाँ! मुझे पता था तुझे पिछले तीन दिन से भोजन नहीं मिला। तुझे भले तकलीफ न हुई हो क्योंकि तेरा अभ्यास है; पर मैं तो अधमरा हो गया। मैं तेरी तकलीफ़ बर्दाश्त नहीं कर सकता।

धनियाँ ने कहा—नहीं;....लेकिन उसके अधरों पर मुस्कुराहट नाच उठी।

हरिप्रसाद बोला—आज अपने साथ लेकर चलूंगा। घर में आज मेरे घी का दिया जलेगा। खंडहर आबाद हो जायगा। मैं कमाऊँगा, तू मौज करेगी।

धनियाँ का हृत्पिण्ड डोल गया, मन चंचल हो उठा और लालच के मोह ने विचारों को परास्त कर दिया। धनियाँ पराजित हो गयी।

उसने माल छाने और बजरंगी का घर छोड़कर हरिप्रसाद के नीचे बैठ जाने का निश्चय कर लिया।

'और इस बच्चे का क्या होगा?' हरिप्रसाद ने पूछा।

'इसे यहीं ननकी दीदी को देती जाऊंगी। वे संभाले रहेंगी और शाम को उसकी जायदाद उसको सौंप देंगी।'

नहीं, इसको भी साथ लेती चल!

'कभी नहीं यह तो उसी का धन है।'

फिर उसने कई बार बच्चे को चुमकारा; दूध पिलाया और पड़ोसिन ननकी को सौंप आई! दोनों चल पड़े, सोने की दुनियाँ बसाने।

× × ×

सन्ध्या को काम करके बजरंगी घर लौटा तो आश्चर्य से अभिभूत हो गया। उसको मानो किसी ने बरछी मार दी हो। वह दंग रह गया—औरत जात सब कुछ कर सकती है। वह उसे भी मार सकती थी। अच्छा हुआ, धनियाँ ने उसकी जान नहीं ली; वरना यदि किसी दिन धोखे से जहर दे देती तो वह क्या कर लेता? मरने दो उस हत्यारिन को दुनिया की भी चाशनी उसे मिल जायगी! अरे मर्द मर्द ही है। फिर वह अच्छी तरह जानता था, धनियाँ की आँखें हरिप्रसाद से लड़ रही हैं। वह बीसों चक्कर लगाता था। उसके लिए नहीं, बल्कि धनियाँ के लिए ही।...और लड़का भी ले गयी?

इसी बीच ननकी बच्चे को लेकर आयी। बोली—बजरंगी भइया यह अपना बच्चा संभालो। वह तो चली गयी और इसे इस बच्चे पर तनिक दया न आई। बड़ी जल्लाद औरत है। मेरा समझाना-बुझाना उसे कुनैन की तरह कड़ुआ लगा।

मैं जानता हूँ दीदी। मुझे रास्ते में ही यह सब दीनदयाल से मालूम

हो गया था ! अच्छा हुआ, चली गई दीदी, घर पवित्र हो गया। उसी की बदौलत घर बरबाद हो रहा था। रोज-रोज की लड़ाई... ।

रात किसी तरह कट गयीं। बजरंगी दुश्चिन्ता में रहा और दूसरे ही दिन वह अपनी विधवा बड़ी बहन को काम चलाने के लिए अपने घर ले आया।

दो-तीन दिन किसी प्रकार सुख-शाँति से कट गये।

चौथे दिन सन्ध्या समय बजरंगी अपने घर के दरवाजे पर खड़ा बच्चे को खेला रहा था। उसका मन उद्विग्न था और धनियाँ की बेवफाई उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े किये दे रही थी। उसका मन क्षुब्ध हो उठा। पीड़ा असह्य हो गयी। उसने अपनी जेब टटोली। परेशानी वह दूर कर सकता है, मुसीबतें भूल सकता है। आज जैसी वेदना का अनुभव जीवन में शायद ही उसने किया हो।

वह धीरे-धीरे शराब की भट्टी की ओर बढ़ रहा है और जीवन के विषम चित्र उसके मस्तिष्क में नाच रहे हैं। बीच-बीच में गोद में लेटा बच्चा रोकर उसकी विचार-धारा में विघ्न डालता है।

गद्दी आ गयी। बजरंगी का रूखा, दुखी चेहरा, हल्की मुस्कुराहट से खिल उठा। वह जैसे स्वर्गद्वार के अन्दर घुसा। अन्दर घुसते ही वह हक्का-बक्का-सा रह रहा। देखा उसने—उसका ससुर पीने में जुटा है और बोतल में अभी काफी शराब शेष है।

ज्योंही उसके ससुर ने बजरंगी को देखा, त्योंही बोल उठा—आ गए भइया, मैं तो मर गया, कहीं का न रहा। मेरी तो सब धुल गयी। पुश्त-दर-पुश्त की इज्जत मिट्टी में मिल गयी। आज सन्ध्या को जब मैंने धनियाँ की करतूत सुनी, चेहरा जमीन में धँस गया! किस मुँह से मैं·······आओ, आओ, लो, तुम भी ले लो, चढ़ा लो, भूल जाओ सब कुछ! यहाँ का यहीं रह जायगा, नेकी-बदी सब! पिओ, भूलो···लो अब देर न करो, आओ···

बजरंगी काठ का मारा रह गया। कुछ बोल न सका, कुछ कह न सका। उसने भी चढ़ाना शुरू कर दिया और बैठक जम गयी। दोनों अपने-अपने को भूलने लगे।

हरिप्रसाद धनियाँ को साथ लिये बाइसकोप देखकर लौट रहा है। वह कभी-कभी गुनगुनाता जाता है—"सावन के बादलो उनसे जा कहो..."

धनियाँ ने कहा—मेरा जी अब भी...

'अब घबड़ाने की क्या ज़रूरत है? वह जिन्दगी... ?'

धनियाँ के अन्दर अशांति के बादल घुमड़ रहे हैं। वह सोचती है—क्या यही सुख है? आज भी बजरंगी और बच्चे की याद उसे क्यों सता रही है?

हरिप्रसाद ने कहा—धनियाँ, मेरी छुट्टी अब खत्म होने पर है, तीन दिन और बाकी हैं। आज क्यो न पी ली जाय! बस एक अद्धा।

दोनों गद्दी के अन्दर आ गये। दोनों ठिठके खड़े रह गये। देखा बजरंगी को ससुर कह रहा है;—अरे बजरंगी, तू ही बता अब मैं कहाँ डूब मरूँ! मैं तो गया।

बजरंगी बोला—तो मेरा क्या ले गयी? मेरी तकदीर तो मेरे साथ है, उसकी करनी उसके साथ! बड़ी चुड़ैल निकली...

बजरंगी का ससुर बोला—मुझे अगर मिल जाय तो जरूर मैं गला उतार लूँ, भले ही फाँसी चढ़ना पड़े।

इसी बीच बच्चा रो उठा। उसे दोनों भूले थे। वह एक ओर पड़ा बिलख रहा था। बजरंगी क्रोधावेश में बोला—अरे तू रोता क्यों है? बड़ी अच्छी करनी की थी न?...खैर ले, तू भी चढ़ा ले, भूल जा उस राँड़ को! जाने वह कितने की जोरू बनेगी, अभी तो...

हरिप्रसाद और धनियाँ पीछे खड़े सब नाटक देख रहे हैं। उनकी रूह कब्ज है।

बजरंगी ने एक कुल्हड़ और चढ़ा ली और मौज में आ अपने ससुर

की पीठ ठोंक बोला—सुन, तू मेरा ससुर, मैं तेरा दामाद। मैं तेरा ससुर, तू मेरा दामाद। तेरी जोरू मेरी जोरू, मेरी जोरू तेरी जोरू! घबड़ाने की क्या जरूरत!

फिर दोनों ठहाका मारकर हंस पड़े।

धनियाँ के अन्दर प्रलयकारी तूफान आया। उसकी संज्ञा-शून्य हो गयी। वह तृण की तरह उसमें उड़ गयी। ज्ञान, धैर्य सब कुछ जाते रहे। उसके जी में आया—ज़रूर यह दैत्य इस बच्चे को भी मार देगा।

बच्चा फिर रोया। बजरंगी ने कहा—अच्छा, अब तू नहीं मानता तो ले! तू भी चढ़ाना चाहता है न? चढ़ा ले···! और शराब का कुल्हड़ उसके मुंह की ओर ले गया।

धनियाँ अपने को न रोक सकी। बाज की तरह बच्चे पर-चीखकर टूट पड़ी—हाय मेरे लाल, हाय मेरे बेटे···! और चूमने लगी।

बजरंगी और उसका ससुर देखता रह गया। ससुर ने कहा—धनियाँ, मेरी नाक उतार ली तूने। कोख की कलंक बन गयी। जा डूब मर कहीं! मुंह दिखाने आयी है चुड़ैल! माना, बजरंगी शराबी है, मुफलिस है, पर हैवान नहीं है, आदमी है। आदमी से ही गलतियाँ होती हैं। बजरंगी उनसे दूर नहीं, पर उसने कभी भी अपनी आँख नहीं खराब की। दूसरे की जोरू और भाईबन्दों की बहु-बेटियों को नहीं उड़ाया। लेकिन···लेकिन तू मर्दों को उड़ाने लगी है? धिक्कार, धिक्कार! इस बुढ़ापे में तूने मेरी सफेद दाढ़ी में कालिख पोत दी?···छिः छिः···लानत है, धिक्कार है···धिक्कार है···जा डूब मर—!

बजरंगी बोला—वाह, आज तो बड़ा रूप संवार रखा है? अरे मैं हरिप्रसाद को अरसे से जानता हूँ!

धनियाँ का सर नीचा था और उसकी आँखों से झरझर आँसू गिर रहे थे। हृदय का शैतान न जाने कहाँ उड़ गया था।

धनियाँ को मूर्छा आने लगी। अपने को संभाल, हरिप्रसाद की ओर

मुड़कर रोते हुए धनियाँ ने कहा—नहीं, नहीं, मैं तेरी जोरू नहीं बन सकती—

लेकिन यह सब हरिप्रसाद सुन सका या नहीं, किसी को मालूम नहीं। हरिप्रसाद वहाँ था भी, यह भी कोई नहीं जानता।

धनियाँ ने बजरंगी की बाजू पकड़कर ऊपर उठाते हुए कहा—अच्छा, लो अब चलो, देर न करो—उठो जल्दी। बच्चा गोद में 'अम्मा-अम्मा' कह रहा था।

दोनों प्रसन्न चित घर आये। ससुर गद्दी से अपने घर की ओर चल पड़ा—ठगनी क्यों नयना चमकावे—

उसे लगा, किसी ने उसकी पीठ पर जोर से मुक्का मार दिया है और वह कराह उठी है।

लखपत दौड़ता आया और बोला—'चाची, अभी अतुल नहीं आया ?'

'नहीं, बेटा, अभी तक नहीं।'

'मेरे सामने तो वह लैन (क्यू) में खड़ा था। उसका नम्बर बहुत पीछे था। आज बड़ी भीड़ थी।'

'बेटा, जाने अभी तक क्यों नहीं लौटा, मैं तो मरी जा रही हूँ।

चाची, अब तक तो उसे आ जाना चाहिए था। कहीं सारा दिन चावल लेने में लगता है ?'

'दूर काफी है। लड़का है, अभी ज्यादा कुछ समझता नहीं। शायद कहीं खेल में अटक गया हो।'

'नहीं चाची, ऐसा वह रुकनेवाला नहीं ! मुझसे कह रहा था, मैं चावल लेकर दौड़ता घर साथ चलूंगा। मेरी माँ चार दिन की भूखी है। कई उपास किए हैं उसे आज—यदि आज चावल न मिले तो मर जायगी।'

माँ फूट-फूट कर रो पड़ी। बोली—'समय है बेटा, सब पर संकट आते हैं।' और अपनी फटी धोती से आँसू पोंछ लिए।

फिर एक क्षण के अन्दर ही उसे उबकाई आई। जी मतला उठा। इसी क्षण रामू दौड़ता आया। बोला—'चाची ओ चाची !'

'कौन है, रामू भइया !'

हाँ, चाची मैं हूँ! अरे बड़ा ग़जब हो गया। अतुल भइया भीड़ में कुचलकर मर गया।' जैसे वज्राघात हुआ हो, धरती फट गई हो—भूकम्प आया हो। विश्व का जैसे सम्पूर्ण अंधकार सिमटकर उसके चारों ओर छा गया हो।

रामू कह रहा था—'चाची, ऐसी मौत भगवान् किसी को न दे। चावल लेने में धक्का-मुक्का हुआ। अतुल ने मुझसे कहा, तो आज चावल लेकर ही जाऊँगा, कुछ भी हो मेरी माँ ने चार फाँके किए हैं। आज उसे चावल न मिले तो वह नहीं बचेगी। दूकान पर ऐसी किसी दिन भीड़ न हुई थी, जैसे—सभी भूखे थे, सो एक पर एक टूटे पड़ रहे थे। उसी भीड़ के झपेट में वह आ गया और दब कर मर गया। पुलिस न आती तो दो-चार और मरते। उसके मुँह से एक कुल्ला खून निकला था और चावल की पोटली बिखरी पड़ी थी। चाची······।'

चाची की दशा अन्तर्यामी ही जान सकते हैं। रामू धन्ना सेठ को आते देख खिसक गया। वह आकर बैठा और बोला—'अतुल सुना है, दबकर मर गया, बड़ी विपदा आ गई तुम पर! परन्तु घबड़ाना नहीं, चिन्ता न करना।'

वह सोच रही थी—ये नीच, पैसेवाले! कहीं किसी नाली के कीड़े होते—पिशाच धन्ना सेठ ने कहा—'रोने से क्या होगा? अरे अकाल उनके लिये है, जिनके पास पैसा नहीं, धन नहीं, सम्पत्ति नहीं! तुम्हारे पास क्या नहीं है? हमने, इस बीच, राजगार से लाखों के वारे-न्यारे किए हैं। फिर अकाल ने तो जैसे लक्ष्मी उँडेल दी है। वह सब किसके लिए है, किसकी है······चिन्ता करने और घबराने की जरूरत नहीं। धैर्य धारण करो, शान्ति से काम लो; भगवान् की मर्जी······।

उसे लग रहा था, जैसे हवनकुण्ड में कोई घी डालकर उसे और

प्रखर बना रहा हो। वह उठी और एक ठोकर धन्ना सेठ के जमाई वह लुढ़क गया। बोला—'यह भी सौभाग्य से······।'

उठ कर बैठते ही उसने फिर दूसरी ठोकर धन्ना सेठ के लगाई। बोली—'कीड़े······।'

उसे लगा, जैसे उसके सम्पूर्ण क्लेश को अब शान्ति का वरदान मिल गया हो।



: ७ :

नर्तकी

बसन्त की सलोनी सन्ध्या ढल रही है, धीरे-धीरे अन्धकार के चरण अवनीतल पर उतर आए हैं। उसने पृथ्वी के प्रकाश को डसना प्रारम्भ कर दिया है। सूर्य डूब गए हैं; किन्तु कुछ सिंदूरी किरणें आकाश के अन्दर से फूटकर सरिता के वक्ष पर कम्पन के साथ अरुणिमा का आभास दे रही हैं। धीरे-धीरे पवन के चटुल झकोरे मादकता को गुदगुदाकर चैतन्य कर रहे हैं। भूले-भटके पक्षियों की एक पंक्ति आकाश में रेखा-सी बना रही है।

एक टीले पर कई व्यक्ति खड़े हैं। सभी राजसी ठाट में हैं। एक लंबे युवक ने सरिता के वक्ष पर दृष्टि फेंकते हुए कहा—'सामन्तवर, नौकाओं का यह विशाल-समह.......?' भाल पर आश्चर्य की रेखायें थीं।

'मन्त्रिवर, गुप्त-साम्राज्य केवल भारत का ही नहीं, बल्कि दूर-दूर तक के देशों का भी व्यापार-केन्द्र है। आप अवगत हैं। यह विशाल समूह प्रायः पाँच दिन पूर्व इस सरिता-तट पर आ उतरा है। स्वामी का नाम शिशिरमणि है और वह मणियों का व्यापार करता है।'

'अचरज, सामन्तवर! विचित्र दृश्य है। सरिता, गिरि-गह्वर, वन-लता, नदी, झील, उपत्यकायें भी सलोनी छटा धारण करती हैं, इसका व्यक्तिगत अनुभव और असीम सुख का भास आज ही जीवन में मुझे हुआ है? वाह! कितनी लुभावनी, कितनी सुन्दर, कितनी मादक संध्या है इस सरिता तट पर?'

'सत्य है, मन्त्रिवर !' सामन्त ने विनीत भाव से कहा। एक क्षण उस बसन्ती सन्ध्या में सभी मौन रहे। लगता था, जैसे सभी उस सन्ध्या के मोहक रूप को पी रहे हों। फिर मन्त्री ने सामन्त की ओर मुड़कर कहा—'सामन्तवर चलो, अब चलें; समय हो गया है। उस स्थान में भी हम लोगों को पहुँचना आवश्यक है।

रथ दूर लगे थे। सभी लोग बैठ गए और पराक्रमी अश्व हवा में उड़ने लगे।

कुछ समय पश्चात् रथ एक निर्जन स्थान में आकर रुक गए। सभी लोग नीचे आ गए। मन्त्री ने पूछा—'क्या हम लोग निर्दिष्ट स्थान पर आ गए हैं ?'

'जी यही उपयुक्त स्थान है।'

'क्या हम लोग ठीक समय से आ गए हैं ?'

'कुछ समय से पहले। अभी हम लोगों को यहाँ कुछ समय ठहरना पड़ेगा।'

'अश्व खोल दिये जायँ।'

'जो आज्ञा, मन्त्रिवर !'

\+ \+ \+

रात्रि की नीरवता में वाद्ययन्त्रों का सम्मोहक स्वर वायु के साथ उड़ कर दूर-दूर के प्रान्त को गुञ्जरित करने लगा। कोमल स्वर में संगीत की लहरियाँ चारों ओर फैले बन प्रान्त में व्याप्त होने लगीं। वायु जब तेज बहती तब लगता, बस यहीं कहीं निकट ही नृत्य-गायन हो रहा है।

सामन्त ने अपने कान लगाकर विशेष ढंग से कुछ वायु के अन्दर से खींच लेने की चेष्टा की।

मन्त्री ने पूछा—'किस बात की चेष्टा कर रहे हो ?'

'सुनिये, यह सुनिये, ये जो कोमलनूपुर-स्वर हैं, उसी अप्सरा के हैं।' सामन्त ने उत्तर दिया।

'हम लोगों को वहाँ चलना चाहिए, सामन्तवर! चलो, विलम्ब न करो। हृदय मुग्ध हो रहा है। अब एक क्षण भी नष्ट करना अनुचित होगा।'

'किन्तु वहाँ चलकर किसी प्रकार का.........।'

'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं होगा।' सभी चल दिये।

नृत्य-सभा में सैकड़ों दर्शक थे। प्रकाश से वह स्थान ज्योतित था। वायु में जैसे सुगन्ध घोल दी गयी हो। वहाँ नितान्त सन्नाटा था। सभी स्तब्ध हो मुग्धभाव से नृत्य को निर्निमेष दृष्टि से देख रहे थे। नुपूरों की गति और स्वर ने एक विचित्र वातावरण बना रखा था।

तपोवन के अधिष्ठाता मुनि ज्ञानेश्वर लताओं के मंडल में ध्यानावस्थित थे। उन्होंने बड़ी चेष्टा से, बड़े परिश्रम से इस तपोवन का निर्माण किया था। इस तपोवन की स्वच्छता, पवित्रता एवं प्राकृतिक सौन्दर्य की चारों ओर दूर-दूर तक चर्चा थी। यहाँ तक कि बड़े-बड़े धनाधीश कलाकार, राज-कर्मचारी इस तपोवन के आदर्श के दर्शन करने आते थे। भगवत् भजन जब होता, तो लगता कोई देव-लोक है। ज्ञानेश्वर को अपने में भूलने की बड़ी सहायता प्राप्त होती थी और केवल इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर इस नर्तकी को उन्होंने अपने इस तपोवन में स्थान दिया था।

नृत्य समाप्त हुआ। सभी अपनी-अपनी ओर चल पड़े, किन्तु किसी ने मौन भंग करने का साहस न किया। वहाँ नृत्य समाप्त होने के पश्चात् भी गहरी स्तब्धता छाई थी।

सन्त ज्ञानेश्वर अब भी ध्यानमग्न थे। उनकी आत्मा इस क्षण लोकरञ्जन राम के दर्शन कर रही थी। किन्तु हाँ, उनके तेजोमय प्रतिमा-पूर्ण, तेजस्वी मुख-मंडल पर किञ्चित् हास्य वर्तमान था, जो उनकी आंतरिक प्रसन्नता को व्यक्त कर रहा था।

नर्तकी मणिलता के अतिरिक्त उस तपोवन के नृत्य-मंडप में और कोई भी नहीं था। नूपुर पैरों से निकाले। रात्रि के प्रकाश में मणिलता

की एड़ियों की लाली एक ओर छिपकर बैठे शिशिरमणि को पागल बना रही थी। वह अचरज में था, यह देवकन्या है या नर्तकी?

मणिलता ने विश्रान्ति की साँस ली।

शिशिरमणि एक ओर से निकल आया।

मणिलता को भान हुआ, कोई दैत्य उस पर आक्रमण करने के लिए आगे आ रहा है। बोली—'रात्रि की नीरवता में एकान्त में, मेरे समक्ष आने का साहस करनेवाले पुरुष तुम कौन? वहीं ठहरो, रुको!'

'मैं बालाद्वीप का व्यापारी शिशिरमणि हूँ, देवी जी। यहाँ, इस देश में व्यापार करने आया हूँ। मैं मणिमुक्ताओं का व्यापार करता हूँ। मेरी नौकाओं का समूह सरिता के तट पर लगा है। आज मैं नृत्य की महिमा और प्रशंसा को सुनकर, देखने के लिए यहाँ उपस्थित हुआ था। मैं अपने को भूल गया था देवी! लगता था, देवलोक में आ गया हूँ। मैं आपकी किस सेवा के योग्य हूँ?' कहकर शिशिरमणि आगे बढ़ा और निर्भीकता के साथ अत्यन्त मूल्यवान मणिमुक्ता और रत्नजटित हार नर्तकी मणिलता के कंठ में छोड़ दिये।

'मेरा इन हारों से कोई सम्बन्ध नहीं है।'

'यह उपहार और भेंट हैं।'

'भेंट स्वीकार करना मेरा नियम नहीं है।'

'फिर भी……!'

'सब की प्रकृति एक-सी नहीं बताई जा सकती……।'

'सेवा और प्रेम को ठुकराया नहीं जाता देवि।'

मणिलता बहुत देर तक युवक को देखती रही। उसके मुख पर यौवन के चिह्न खेल रहे थे। नर्तकी ने इसके पूर्व ऐसा सौन्दर्य कभी नहीं देखा था। बोली—'युवक, भूल रहे हो?'

'कहीं तो किनारा मिलेगा ही। बाली से चलकर यहाँ तक आ सका हूँ।'

'किन्तु भेंट का मूल्य बड़ा मँहगा होता है, युवक शिशिरमणि……'

'अवश्य, मैं जानता हूँ।'

'तु……म……जा……न……ते……हो युवक ?' अचरज से नर्तकी ने कहा।

'जी, मैं किसी भी क्षण मूल्य चुका सकता हूँ। मेरे पास भी एक बड़ा सुन्दर और सुहावना इस तपोवन से कहीं श्रेष्ठ उपवन है। किन्तु वह सूना पड़ा है। उसके योग्य कोई भी उपयुक्त पात्र आज तक नहीं मिल सका है। क्या वह सूना ही रहेगा ? क्या उसका सौभाग्य कभी उदय नहीं होगा ? मेरे अन्तःपुर की शोभा इस जीवन में कभी वढ़ाई नहीं जा सकती; क्योंकि मैं शापित हूँ… ! किन्तु क्या मेरा नवनिर्मित उपवन भी…?'

'तुम अविवाहित हो शिशिरमणि…?'

'और शापित भी !'

'किन्तु कला शाप को वरदान में बदलने की शक्ति रखती है।'

'भविष्य किसी के वश में नहीं।'

'शिशिरमणि के हाथ में एक क्षण के अन्दर ही चमचमाती कटार आ गई और ज्यों ही उसने अपने वक्ष के सामने किया, मणिलता ने हाथ पकड़ लिया; बोली---मूल्य चुका रहे हो ! मैं इतना ज्ञान रखती हूँ।'

कल सन्ध्या समय मैं यहीं मिल सकूंगी, अब समय हो गया है। संत ज्ञानेश्वर मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे ?' कहकर भेद-भरी दृष्टि छोड़ मणिलता चल पड़ी।

शिशिरमणि अपने डेरे पर आ गया। उसके अन्दर आज एक विचित्र प्रकार का प्रमाद था। आँखों में नशा था, अंग-अंग फड़क रहे थे। उसे व्यापार से घृणा हो रही थी। अपने तपोवन को हरा-भरा और सन्त ज्ञानेश्वर के उपवन की भाँति ही लहलहाते देखने की इच्छा बलवती हो उठी। वह इस कमी की पूर्ति के लिए सब कुछ न्यौछावर करने को उद्यत था। संसार से उसे ऊब लगने लगी।

जब वह बजरे पर वापिस गया !'

नाविक ने पूछा----'और भोजन ?'

'भोजन नहीं करूँगा।'

वह रात्रि बड़ी बेचैनी से व्यतीत हुई।

+ + +

सन्त ज्ञानेश्वर ने कहा—'बेटी, अब यह तपोवन नष्ट होगा, भगवत इच्छा है।'

'कैसे देव ?'

'दस्युओं ने चारों ओर से आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया है।'

'विषाद के बादल भी टल जायेंगे। आपकी साधना में इतना बल है।'

'साधना का बल आत्मशुद्धि के लिए है, किसी को दण्ड और कष्ट देने के लिए नहीं। मुझे संसार से कोई सरोकार नहीं। तब संसारी सृष्टि को दण्डित करने की बात कैसी ?'

'प्रभु'। पैर पकड़कर रो पड़ी मणिलता। बोली—'देव।'

'मैं प्रसन्न हूँ, मणि। परमात्मा पर भरोसा करो। वह सर्वशक्तिमान.......' ऊपर आसमान की ओर अँगुली उठाकर सन्त ने कहा।

रात्रि किसी प्रकार व्यतीत हो गयी। मणिलता की मूर्छा-सी जागी। देखा—चारों ओर वायु नहीं है। पत्ते हिलते नहीं। पक्षी मौन हैं। उपबन की हरीतिमा कालिमा में परिणत हो रही है। दुर्वादल मुर्झा गए हैं। दिशाएं किसी अनिष्ट की सूचना दे रही हैं। एक भीषण हाहाकार और हृदय को मथनेवाला क्रन्दन चारों ओर हो रहा है।

'यह सब क्या है ? मणिलता ने सोचा—'क्या सन्त ज्ञानेश्वर को यही प्रिय है ?'

उठकर वह सन्त की कुटी की ओर गयी। देखा—सन्त ज्ञानेश्वर तपोवन छोड़ चुके हैं।

मणिलता मूर्छित होकर गिर पड़ी। यह कैसा दण्ड !

\+ + +

घोड़ों की टापों से उपवन आन्दोलित हो उठा। चारों ओर सेना एकत्रित थी। मन्त्री महोदय दूर से आते दिखाई दिये।

मणिलता की मूर्छा समाप्त हो चुकी थी। वह भयंकर वेदना और कष्ट में थी। स्वगत बोली—'क्या सत्य ही, सन्त ज्ञानेश्वर के शब्दां में इस उपवन पर दस्युओं के आक्रमण प्रारम्भ हो गए हैं ?'

मन्त्री निकट आकर खड़े हो गए। बोले—मेरे अन्तःपुर के अशेष सौन्दर्य, मेरे उपवन की देवी, वह मेरा राजभवन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। यह सेना तुम्हारे स्वागत के हेतु है।

'राग-रंग और भवन ? कला में इनका स्थान नहीं। यह सब क्या ? मंत्रिवर, नर्तकी की एक गति पर विश्व का सारा धन न्यौछावर हो सकता है। उस गति को अगति न करो जाओ, इस उपवन को भ्रष्ट न करो।'

'मैं कला को खरीद सकता हूँ, मणिलता ?'

'कला मूल्य से ऊपर है जैसे माया से जीव। उसे धन, सम्पत्ति खरीद नहीं सकते। वह सृष्टि का एक वरदान है। वह अजेय है।'

त्यौरियाँ चढ़ गयीं। मन्त्री क्रुद्ध हो उठे। हाथ में खड्ग लेकर बोले—'इसके द्वारा मैंने विजय पायी है। यह शक्ति है।'

'किन्तु कला पर नहीं, कला खड्ग द्वारा पराजित नहीं होती। वह खड्ग पर व्यंग-हास्य है। वह खड्ग-शक्ति से कहीं अधिक तीव्रतम है।'

कल सन्ध्या तक तुम्हारा निर्णय हो जाना चाहिए मणिलता, अन्यथा यह उपवन अग्नि की लपटों से खेलता दृष्टिगोचर होगा······'

सेना मन्त्री महोदय के 'गित आदेश पर लौट पड़ी। मन्त्री का मुख लाल था। उनके अंदर प्रतिहिंसा की आग जल रही थी।

\+ + +

'कैसी भयंकर परिस्थिति है !'

'परवाह करने की आवश्यकता नहीं।'

'हम निर्बल के बल······'

देवि मणिलता, बाली द्वीप के शिशिरमणि के साथ योद्धा हैं, सेना है और सैन्य सामग्री भी। वे इन दस्युओं के दाँत खट्टे कर देंगे!'

'हिंसा का कारण मणिलता है, मैं हूँ! इस शरीर को लूटने के लिए, सौन्दर्य की वासना को भट्टी में जलाने के लिए सभी ओर से दस्युओं के आक्रमण हो रहे हैं। किन्तु यह सौन्दर्य भी कला के गहरे रंग से रंगा हुआ है। कला पवित्र है, पवित्र रहेगी और शिशिर······'

मैं मृत्युपर्यन्त रक्षा का बीड़ा उठाता हूँ देवि!······मेरा उपवन, मेरी साध, मेरी साधना, मेरी अभिलाषायें······और यह शापित शिशिर······ मैं!'

'यह क्या शिशिर···!'

मैं मृत्यु के पश्चात् भी यदि अपने उपवन को लहलहाता देखने के लिए तुम्हें प्राप्त कर सकूंगा, तो अपने पौरुष को, अपनी शक्ति को धन्य मानूंगा, सराहना करूंगा।'

'हरीच्छा···'

इसी बीच नगाड़ों की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ी। बिगुलों की विचित्र ध्वनियों से दिशाएं एक बार फिर गूंज उठीं। दोनों ओर की सेनाएं आमने-सामने आ गयीं। मणिलता चौंक पड़ी—'यह सब क्या? उसकी कला का मूल्य क्या इस प्रकार हत्याओं द्वारा···' युद्ध छिड़ गया। वह सिहर उठी।

मणिलता को बचाता हुआ, सैनिकों के बीच युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों से रक्षा करता हुआ शिशिरमणि नौका-समूह की ओर चल पड़ा।

'पकड़ो, जाने न दो!' आवाज आयी।

मणिलता को साथ में लिए शिशिर आगे बढ़ रहा था। उसका शरीर बिंध गया है।

एक तीक्ष्ण तीर शिशिर के पैरों में आकर लगा। शीघ्र ही तीर को बाहर निकाल वह आगे बढ़ा। मणिलता चीख़ रही थी। यह रक्त की धार··· यह कोमल युवावस्था...लहू से लथपथ शरीर··· ।

'यह क्या हो रहा है ?'

'घबराओ नहीं, मणि ! कला का मूल्य यदि प्राण देकर भी मैं चुका सका... ! मेरा उपवन···मेरी···साध···मेरी···अभिलाषा···'

'मारो, मारो' फिर आवाज आयी। फिर कहीं से एक तीर और आकर शिशिरमणि का काम तमाम कर गया।

विपक्षियों का तुमुलनाद ! प्रसन्नता का अट्टहास !! एक ओर से ! जय-जयकार के नारों से आकाश एक बार गूंज उठा।

शीघ्र ही नौका-समूह के एक बजरे में घायल शिशिरमणि भेज दिया गया और मणिलता भी उसी के साथ चल पड़ी।

सन्ध्या के उस अन्धकार में सन्नाटा छा गया। मन्त्री, मणिलता को खोज रहे थे। नौकाओं का विशाल समूह खड़ा था, किन्तु एक बजरा बड़ी तेजी के साथ सरिता के प्रवाह में, बहुत दूर, उड़ता चला जा रहा था। उससे कभी-कभी, बीच में वायु के साथ एक चीख आ जाती थी, जो मन्त्री को इस बात की सूचना देती थी—'कला पराजित नहीं होती ! वासना का जीवन छोटा है, उसमें साहस की कमी होती है। पराजय उसका अंग है।

बजरा आगे बढ़ रहा था। नाविक अपने कार्य में तत्परता से व्यस्त थे। उनके चेहरे पसीने से भीग गए थे। हाथ थक गए थे। आँखों में नींद थी।

रात्रि को चन्द्रोदय हुआ। चाँदनी खिलखिला उठी। दिशाएँ मुस्कराईं।

मणिलता ने देखा—

शिशर तो चल बसा। नेत्रबन्द हो गए।

अब वह अपने उपवन को लहलहाता नहीं देख सकेगा···लेकिन इस शव के साथ वाली द्वीप वह क्या मुँह लेकर जायगी ? क्या यह कला की पराजय नहीं है ?

नाविक ने सुना, कहीं से आवाज—छुप्प !

कोई जल-जन्तु होगा, वह अपने कार्य में पुनः लग गया।

मणिलता सोच रही थी, यदि अपने जीवन का मल्य देकर भी शिशिर-मणि मुझे न प्राप्त कर सका, तो कला पराजित होगी, कलंकित होगी, मैं गिर जाऊँगी। कला के आदर्श की रक्षा कैसे होगी ?···लेकिन वह उपवन, अभिलाषाएँ यौवन के वे सलोने स्वप्न···?···मैं शिशर को प्राप्त करूँगा···अब जीवन व्यर्थ है···मैं भी कला का मूल्य···शिशर ने कटार निकाली थी···

मणिलता के चारों ओर तूफान-सा आया, अब जीवन की उपयोगिता ही क्या···?

बजरा चल रहा है; फिर आवाज आयी···झम्म !

नाविक ने देखा, सब ठीक है, कहीं कुछ नहीं है।

\+ \+ \+

प्रभात हुआ।

सूर्य का रक्ताभ विम्ब आकाश को चीर बाहर आया।

बजरा एक किनारे लगाया गया ! नाविक तथा सेनानायक अन्दर गए। देखा—अरे शिशिरमणी का शव···? अरे···और वह मणिलता भी ?

नाविक से पूछा—'रात्रि में क्या बजरा कहीं रोका गया था ?'

'कहीं नहीं !'

'अचरज ! न यहाँ शव है और न देवि मणिलता···!'

'कह नहीं सकता···!' काँपते हुए नाविक बोला।

एक दीर्घ निश्वास लेकर सेनानायक ने कहा—'कैसा विचित्र व्यापार है !'

'आज्ञा है ?' नाविक ने कहा।

'बजरा खोल दो···!' सेनानायक फूट-फूट कर रो उठा···आँसू झर रहे हैं।

बजरा आगे बढ़ रहा था और···!



: ८ :

कलाकार बन्धु

कंकरीले-पथरीले टेढ़े-मेढ़े और ऊंचे-नीचे पहाड़ी मार्ग पर चलते जैसे दारुण क्लेश का अनुभव होता है, अनन्त अम्बुधि की उमग भरी उल्टी धारा को तैरकर, चीरते समय तैराक जिस महान् संकट का बोध करता है, ठीक वैसा ही शायद उससे भी अधिक, इस साफ-सुथरे आधुनिक आविष्कारों से अलंकृत विशाल राजपथ पर चलते महेश क्लेश और संकट का अनुभव कर रहा है। वह सामने, दस कदम आगे, टी स्टॉल है, यहाँ से दिखाई दे रहा है, लेकिन यह दस कदम का मार्ग उसके लिए शतयोजन यात्रा हो गयी है ! मस्तिष्क के अन्दर विचारों की रील तेजी से चल रही है। अभी-अभी घर में, पत्नी से एक झड़प हो चुकी है। पत्नी ने कहा था—'दुनिया भर में धूम-धाम है, चहल-पहल है। घर सजाए जा रहे हैं। सफाई हो रही है दीपावली की तैयारी की जा रही है और तुम हाथ पर हाथ रक्खे बैठे हो ? आखिर इस कला-कारी से कब फुरसत मिलेगी ? इस बेहया जिन्दगी से तो मर जाना अच्छा ! क्या तुम्हें शर्म नहीं आती ? लज्जा का अनुभव तुम नहीं करते ? दुनिया की जिन्दगी और रहन-सहन को देखो और अपनी कच्ची, निर्लज्ज गृहस्थी को देखो, बाल-बच्चों के रहन-सहन और वस्त्रों को देखो; दूध की कौन कहे, दाने-दाने को मोहताज हैं। फिर सबके तुम कर्जी हो। आखिर यह भी कोई जिन्दगी है ? न मेरी परवाह करो, न अपनी करो, लेकिन इन बाल-बच्चों की जिन्दगी...'

विषबाण-से ये वाक्य उसके कोमल हृदय में विंध गए थे। उसे लगा, उसने बेकार ही शादी करली, उसने अनावश्यक बाल-बच्चे पैदा कर दिए, उसके माँ-बाप ने भी बहुत बड़ी गलती की, जिसके परिणाम स्वरूप उसे ऐसे भयंकर सक्रान्तिकाल में जन्म मिला। दुनिया भी अजीब गोरखधन्धा है। एक ओर देश का बौद्धिकवर्ग, दुर्व्यवस्था से कराह रहा है, विष पीकर जीवित मृत्यु का जीवन बिता रहा है, दूसरी ओर दीपावली मनाने की धूम है।

महेश सड़क पर भाराक्रांत मन, शिथिल गात आगे बढ़ रहा है। उसे गहरी पीड़ा है, उसके जीवन में विषाक्त-फोड़ा सा है, जो शरीर को धीरे-धीरे नष्ट कर रहा है, कड़ुवाहट फैला रहा है, उल्लास, उमंग, भावनाओं को काले सर्प की तरह डसता जा रहा है और कलाकार महेश अब चलती-फिरती साहित्यिक लाश बन गया है। भैंसे को भी पेट भर चारा-दाना मिल जाता है, लेकिन कलाकार...कवि...और जाने क्या...?

इसी क्षण महेश के अन्दर हाहाकार से भरा एक वेगवान तूफान आ गया। उसका मन भारी हो, ऐंठने लगा। अनायास ही ताश के उड़ते पत्ते की तरह गृह का वह करुण दृश्यचित्र भी घूम गया।

पुत्री सरोज ने महेश से रिरियाकर करुणा-भरो वाणी में कहा था—'बाबू जी, एक पैसा दे दीजिए, आज गंडेरी लूँगी। बहुत दिनों से मैंने आपसे पैसा नहीं माँगा।'

उत्तर में महेश ने विषाद से भरी, विवशता की असमर्थता से बोझिल एक शुष्क हँसी देदी। बोला—'आज पैसे नहीं हैं। कल ले लेना। अच्छा, बेटी!'

सरोज रो पड़ी। माता से कहा—'मैं बाबू जी के मित्रों से शिकायत करूँगी, मुझे पैसे नहीं देते।'

माता ने कहा—'नहीं बेटी, ऐसा नहीं कहा जाता। कोई तुम्हें दे

थोड़े ही देगा। अपने कष्टों को, तकलीफों को कहते नहीं, बर्दाश्त करते हैं। दिन एक से नहीं रहते सबके। बाबू जी के भी ये दिन नहीं रहेंगे।'

'लेकिन ये तो रात-दिन लिखते हैं, कमाते तो नहीं।' पुत्री ने कहा।

फिर दोनों ने उस गम्भीर नीरवता में अपनी आँखों के बड़े-बड़े आँसू पोंछ लिए।

महेश ने देखा—और ध्यानपूर्वक देखा—शरीर काला पड़कर सूख रहा है। खून अब अधिक नहीं है। एक दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए उसने अपने अन्दर ही कहा—हाय री ग़रीबी, हाय रे दैन्य जीवन और हाय रे बेरहम कलाकारी जीवन !

टी-स्टाल आ गया। बड़ी कठिनाई के बाद मिला। पहले बैठकर स्वस्थ हुआ। फिर चाय पी। मन ही मन कहा—चाय भी बुरी चीज़ है। बेकार पैसा जाता है। शरीर को लाभ देने के गुण इसमें नहीं। खून को सुखाती है, जलाती है······लेकिन हाँ, अच्छी एक अर्थ में केवल अभागों के लिए है, चाय का नशा कुछ सस्ता है। चार पैसे में एक प्याली। काढ़ा पीने के बाद जो उत्तेजना मिलती है, उससे भावनाओं को क्षणिक बल अवश्य प्राप्त हो जाता है। यही जीवन है, भले ही क्षणिक हो, चाय द्वारा या किसी अन्य व्यसन द्वारा हो······। महेश असंतुलित था इस समय।

जब वह उठकर चलने लगा, तो चायवाले से बोला—'भाई सेठ जी, मुझे दो रुपया उधार दीजिए। ऐसी ही कुछ जरूरत आ गयी है। जल्दी ही लौटा दूँगा।'

चायवाला कलाकार महेश को अच्छी तरह जानता है। उसने कवि, कलाकार के रूप में महेश के चित्र भी अक्सर समाचार-पत्रों में देखे हैं, महेश के लिये उसका हृदय उदार है और सम्मान सुरक्षित है। वह पढ़ा-लिखा है और साहित्य-सेवी की पद-मर्यादा और जिम्मेदारी से परिचित है। साहित्य-सृष्ठा अपने देश और काल के भाग्य-विधाता हैं और साहित्य

रा ही देश ऊपर उठता है, यह भी वह जानता है। लेकिन साहित्य-वियों की दैन्यता, गरीबी उसे सह्य नहीं। उसने महेश को दो रुपये ए और बोला—'महेश जी, आप कब तक इस प्रकार जीवन व्यतीत रेंगे? भारत अभी अपने नेता, कलाकार-कवि और राष्ट्रनिर्माता शहीदों ा सम्मान करना नहीं जान सका, शायद अब आगे कुछ हो सके। व तक आप एक छोटी-मोटी चाय की ही दूकान क्यों न खोल लें? ामदनी का जरिया तो चाहिए ही कुछ। कांग्रेस-सरकार कलाकार म्प्रदाय को कुछ मदद न देगी। आशा करनी व्यर्थ है।'

कलाकार महेश वहाँ से चला, तो घर आते ही नयी समस्या सामने ग्रा गई। गिरीश को बेहद बुखार चढ़ा था। चेहरा तमतमाया हुआ था। ाँ परेशान थी। घर में राशन न था और इलाज के लिए धेला-पाई र थी।

महेश इक्का लाया। डाक्टर के पास गया। उन्होंने दवा दी। डाक्टर साहब परिचित थे। महेश बोला—'दवा आदि के दाम लिख लीजियेगा।'

डा० शर्मा मुस्कराए और बोले—'प्रसन्नतापूर्वक लिख लूँगा। आपकी सेवा करने में मुझे प्रसन्नता होती है। लेकिन आप भी समझ लें, डाक्टरी भी एक तरह का व्यापार है और...'

महेश बोला—'समझता हूँ। दाम जल्दी ही आ जायेंगे। यह मौका अनायास ऐसा आ गया कि मैं...असमर्थ...। हाथ खाली है...'

'कोई बात नहीं, मैं कुछ कहता नहीं हूँ।' डाक्टर शर्मा ने उत्तर दिया।

महेश जब वहाँ से लौटा, तो बुरी दशा थी। सोच रहा था—चारों ओर घोर स्वार्थ छाया है। जगत कठोर वस्तुवादी बन गया है। डा० शर्म्मा सहपाठी हैं, लेकिन बदल गए हैं। उन्होंने क्या सच ही अन्य

लोगों के सामने मेरा कम अपमान किया ? विष दे देते तो ज्यादा अच्छा था ?

दीपावली परसों है। बीच में एक दिन शेष है। चारों ओर हंसी-खुशी का संसार मुखरित है, लेकिन शासन की दुर्व्यवस्था के कारण युवक, तरुण कलाकार घुट-घुट कर मर रहा है। परिवार भूख से, बीमारी से, औषध के अभाव में मर रहा है।

रात को गिरीश का तापमान बहुत-बहुत ऊँचा हो गया, सभी परेशान। धन के अभाव में न डा० आ सकता था, न कोई भी व्यवस्था की जा सकती थी। किसी तरह रात बीती, दिन बीता, लेकिन दूसरी रात कालरात बनकर आ गई।

गिरीश प्रभात न देख सका। वह लकड़ी की तरह ठंडा हो गया। सभी रोए, कोहराम मचा। लेकिन लाभ...?

महेश सन्ध्या समय श्मशान से लौटा। बुरी दशा थी। सर में चक्कर आ रहा था। सर में पीड़ा थी।

श्मशान से लौटते कोई महेश के कान में कह रहा था—'धिक्कार है कलाकार, धिक्कार ! छिः छिः ! यह जीवन है !'

महेश ने कुरता पहना। कहीं जाने से पहले पत्नी से पूछा—'भूख बड़ी लगी है। घर में खाने को कुछ है ?'

पत्नी दीर्घ निश्वास छोड़कर रो पड़ी। बोली—कुछ नहीं है।

'भोजन बनेगा ?'

'राशन का दाना नहीं है।'

'तब !'

'मेरे पास एक अंगूठी रखी है। बेचकर कल सामान खरीद लाना साथ ही मेरे लिए विष भी लेते आना, ऐसा जीवन भी क्या !'

महेश के मर्म पर चोट लगी। वह अन्दर से रो पड़ा। आँसू बाहर

निकल आए। लगा उसे—एक हाहाकार से भरा भयंकर तूफान आ गया है और वह तृणवत् उड़ रहा है।

अनायास ही महेश के हाथ कुरते की जेब में गए। कागजों, पत्रों का ढेर बाहर निकाला। प्रकाश में पढ़ा। सम्पादकों के पत्र थे। लिखा था—'दीपावली अंक धूम से, सजधज से निकल रहा है। व्यवस्थापक जी अभी पहाड़ पर से लौटे नहीं हैं। मुझे आदेश किया है, कि मैं आपको पत्र लिख दूं, दीपावली अंक के लिए आपका कुछ प्रसाद मेरे पत्र के लिए मिलना चाहिए। आप की रचना के बिना अंक अधूरा रहेगा।

इसी प्रकार के अन्य पत्र थे। महेश ने गहरी निराशा से, घृणा से भी, कागज़, पत्र सब कुछ पत्नी को देते हुए कहा—'लो, ये चूल्हा जलाने का काम देंगे।'

'चूल्हा भी आज कब जलेगा? घर में कुछ राशन जो नहीं है!' पत्नी ने उत्तर दिया।

महेश को कुछ ठंडक मालूम हुई। हाथ पैर शिथिल थे। पैर आगे न बढ़ सके।

फिर सिर चक्कर काटने लगा। महेश कमजोरी के कारण शिथिल हो, मूर्छित हो, घर के दरवाजे पर गिर पड़ा—धड़ाम!

शहर में बाहर, चारों ओर मंगल दीपावली का स्वच्छ आलोक मुखरित था और रात दिन की तरह प्रकाश से जगमगा रही थी।

लेकिन इस घर में अमानिशा का अन्धकार था, क्योंकि कलाकार जीवन और जगत से ऊपर का पखेरू है।



लेते हैं, तो उससे राष्ट्र के अन्य आवश्यक कार्य रुक जाते हैं, दूसरों की जरूरतें पूरी नहीं हो पातीं। धन को रोक रखना राष्ट्र-द्रोह है। अब हिन्दुतान आजाद हुआ है, हम लोगों को तो अपने कर्तव्य और जिम्मेदारियों के प्रति पूरी तरह सजग रहना है।'

'सो तो है।' दुलारे पाण्डेय ने कहा—'जो है सो, आप लोगों के बल पर ही तो हिन्दुस्तान आजाद हुआ है।'

'लेकिन एक बात है नम्बरदार, इस आजादी से इन किसान मजदूर भाइयों का (उनकी ओर संकेत करते हुये) क्या लाभ हुआ है ? ये तो आज भी बेचारे घुट रहे हैं, पिस रहे हैं। उन्हें स्वराज का क्या अनुभव हुआ ? क्या मजा मिला ? हम पूछते हैं इन्हें मिला क्या ? नेहरू और गाँधी ने इन्हें क्या दे दिया ? सच पूछिये तो स्वराज मिला नेहरू और पटेल को जो देश की ऊंची कुर्सियों पर विराजमान हैं। इनके हित के लिए, इनकी प्रसन्नता और लाभ के लिए, इनकी तरक्की के लिए, अभी तक तो कोई उद्योग और प्रयत्न हुये नहीं।'

पास में खड़े किसान-मजदूर सेठ रामदास की खीरमोहन जैसी मीठी-मीठी बातें सुनकर मुग्ध हो गये। बोले, 'अब हम लोग तो आपकी ओर देखते हैं। सेठ जी, कुछ ऐसे साधन जुटाइये और योजना बनाइये जिस से हम लोगों को फायदा हो और...।'

'हाँ आँ...आज यही सोचकर मैं यहाँ दुलारे महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। ये मेरे पुराने परिचित और व्योहारी हैं। इनकी और आप सब की सहायता से ही मेरी यह योजना सफल हो सकती है। आइये, योग दीजिए और सोने-से दिन और चांदी-सी रातें काटिए।'

सभी व्यक्ति सेठजी की ओर ताकते रहे। मानों पूर्णिमा-सा चाँद देख रहे हों। दुलारे पाण्डेय ने कहा—'हम लोग जरूर आपको सहयोग देंगे। आप अपनी योजना इन्हें समझाइये जो है सो सेठ जी।'

सेठ जी ने कहा—'देखिये आप सब के पास खूब गल्ला और अनाज

है। आप सब लोग उसे बेच दें। वह देश के काम आयेगा। यदि आप लोग सरकार के हाथ बेचेंगे, तो आप उसका उचित मूल्य नहीं पा सकेंगे। सरकार उससे व्यापार करेगी। उस गल्ले को दूसरे देशों को भेजेगी। सरकार आपसे नियंत्रित मूल्य पर गल्ला लेगी, किन्तु जब आप उसे खरीदने को निकालेंगे तो आपको गिरे दामों पर भी गल्ला न मिलेगा।

'ठीक कहते हैं, आप ठीक कहते हैं। सच ही सरकार ने आज तक हम लोगों को केवल आश्वासन भर दिए हैं। और वायदों से झोली भर दी है। हर बात में कमेटी बनती है और स्कीमें बनती हैं। परन्तु काम कुछ भी नहीं होता। हम लोग अब कोरी हुन्डी नहीं लेंगे। यदि सरकार को कुछ देना है तो नकद दे हम लोग सरकारी निर्ख पर सरकार को गल्ला देकर ही क्या भुना लेंगे ?' एक व्यक्ति जो देखने में दुबला था और जिसकी आँखें बिल्ली की तरह थी, बोला—'अच्छा तो आप यह बताइये, आप गल्ला लेंगे किस भाव पर ?'

'भाई सरकारी दर से भी कम...और दूसरी बात यह है कि हम बदले में आप लोगों को गिलट और कागज के टुकड़े नहीं देंगे। आप लोग बदले में मुझसे चाहे तो सोना लें, चाँदी लें, और चाहे गिन्नी मोहर ! फिर इससे जो लाभ होगा वह दान पुण्य में चला जायगा। मैं अपने लिए क्या कर रहा हूँ ? इस दान-पुण्य में आप लोगों का भी हिस्सा होगा।'

अब गाँव भर के किसान वहाँ इकट्ठे हो गये थे और सब ही पुलकित थे। कुछ मन ही मन अपने गल्ले की कीमत भी लगाने लगे थे। कोई सोच रहा था—सब बेच देंगे। अच्छे दाम मिल रहे हैं—मुंह माँगे। अब ऐसा अवसर क्यों आयेगा ?

एक किसान ने दूसरे के कान में कहा—'ऐसा स्वराज तो हमें चाहिए ही। दो साल में मालामाल हो जायँगे।'

इसी बीच एक व्यक्ति जिसके मस्तक पर बल पड़े थे और आँखों में

लेते हैं, तो उससे राष्ट्र के अन्य आवश्यक कार्य रुक जाते हैं, दूसरों की जरूरतें पूरी नहीं हो पातीं। धन को रोक रखना राष्ट्र-द्रोह है। अब हिन्दुतान आजाद हुआ है, हम लोगों को तो अपने कर्तव्य और जिम्मेदारियों के प्रति पूरी तरह सजग रहना है।'

'सो तो है।' दुलारे पाण्डेय ने कहा—'जो है सो, आप लोगों के बल पर ही तो हिन्दुस्तान आजाद हुआ है।'

'लेकिन एक बात है नम्बरदार, इस आजादी से इन किसान मज़दूर भाइयों का (उनकी ओर संकेत करते हुये) क्या लाभ हुआ है? ये तो आज भी बेचारे घुट रहे हैं, पिस रहे हैं। उन्हें स्वराज का क्या अनुभव हुआ? क्या मजा मिला? हम पूछते हैं इन्हें मिला क्या? नेहरू और गाँधी ने इन्हें क्या दे दिया? सच पूछिये तो स्वराज मिला नेहरू और पटेल को जो देश की ऊंची कुर्सियों पर बिराजमान हैं। इनके हित के लिए, इनकी प्रसन्नता और लाभ के लिए, इनकी तरक्की के लिए, अभी तक तो कोई उद्योग और प्रयत्न हुये नहीं।'

पास में खड़े किसान-मजदूर सेठ रामदास की खीरमोहन जैसी मीठी-मीठी बातें सुनकर मुग्ध हो गये। बोले, 'अब हम लोग तो आपकी ओर देखते हैं। सेठ जी, कुछ ऐसे साधन जुटाइये और योजना बनाइये जिस से हम लोगों को फायदा हो और...।'

'हाँ आँ...आज यही सोचकर मैं यहाँ दुलारे महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। ये मेरे पुराने परिचित और व्योहारी हैं। इनकी और आप सब की सहायता से ही मेरी यह योजना सफल हो सकती है। आइये, योग दीजिए और सोने-से दिन और चांदी-सी रातें काटिए।'

सभी व्यक्ति सेठजी की ओर ताकते रहे। मानों पूर्णिमा-सा चाँद देख रहे हों। दुलारे पाण्डेय ने कहा—'हम लोग जरूर आपको सहयोग देंगे। आप अपनी योजना इन्हें समझाइये जो है सो सेठ जी।'

सेठ जी ने कहा—'देखिये आप सब के पास खूब गल्ला और अनाज

है। आप सब लोग उसे बेच दें। वह देश के काम आयेगा। यदि आप लोग सरकार के हाथ बेचेंगे, तो आप उसका उचित मूल्य नहीं पा सकेंगे। सरकार उससे व्यापार करेगी। उस गल्ले को दूसरे देशों को भेजेगी। सरकार आपसे नियंत्रित मूल्य पर गल्ला लेगी, किन्तु जब आप उसे खरीदने को निकालेंगे तो आपको गिरे दामों पर भी गल्ला न मिलेगा।

'ठीक कहते हैं, आप ठीक कहते हैं। सच ही सरकार ने आज तक हम लोगों को केवल आश्वासन भर दिए हैं। और वायदों से झोली भर दी है। हर बात में कमेटी बनती है और स्कीमें बनती हैं। परन्तु काम कुछ भी नहीं होता। हम लोग अब कोरी हुन्डी नहीं लेंगे। यदि सरकार को कुछ देना है तो नकद दे हम लोग सरकारी निर्ख पर सरकार को गल्ला देकर ही क्या भुना लेंगे?' एक व्यक्ति जो देखने में दुबला था और जिसकी आँखें बिल्ली की तरह थी, बोला—'अच्छा तो आप यह बताइये, आप गल्ला लेंगे किस भाव पर?'

'भाई सरकारी दर से भी कम...और दूसरी बात यह है कि हम बदले में आप लोगों को गिलट और कागज के टुकड़े नहीं देंगे। आप लोग बदले में मुझसे चाहे तो सोना लें, चाँदी लें, और चाहे गिन्नी मोहर! फिर इससे जो लाभ होगा वह दान पुण्य में चला जायगा। मैं अपने लिए क्या कर रहा हूँ? इस दान-पुण्य में आप लोगों का भी हिस्सा होगा।'

अब गाँव भर के किसान वहाँ इकट्ठे हो गये थे और सब ही पुलकित थे। कुछ मन ही मन अपने गल्ले की कीमत भी लगाने लगे थे। कोई सोच रहा था—सब बेच देंगे। अच्छे दाम मिल रहे हैं—मुंह माँगे। अब ऐसा अवसर क्यों आयेगा?

एक किसान ने दूसरे के कान में कहा—'ऐसा स्वराज तो हमें चाहिए ही। दो साल में मालामाल हो जायँगे।'

इसी बीच एक व्यक्ति जिसके मस्तक पर बल पड़े थे और आँखों में

क्रोध के चिह्न स्पष्ट थे, भीड़ को चीर कर बाहर आया और बोला—'यह हर्गिज, हर्गिज नहीं होने दूंगा । दुनिया को बहुत दिनों तक पागल बनाया, अब ज्यादा उम्मीद न कीजिये, सेठ जी ! राष्ट्र की सम्पत्ति राष्ट्र के ही काम आयेगी, व्यक्ति का उस पर अधिकार न होगा और व्यक्तिगत या दलगत स्वार्थ अब नष्ट हो जायेंगे । इन बेचारे जाहिल किसानों को बरगलाकर गल्ला खरीदना चाहते हैं और बाजार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर 'काले बाजार' से अपना पेट बढ़ाना चाहते हैं? बंगाल का अकाल आपकी काली-करतूतों का उज्जवल चित्र है । शर्म नहीं आती आपको ? वहाँ पर भी पूंजीपतियों ने नरपिशाच बनकर धन पैदा किया, किन्तु अब उसकी पुनरावृत्ति इस स्वतंत्र भारत में न होने पायेगी। मैं इसका विरोध करूंगा और ऊपर भी इत्तिला करूँगा !'

सेट जी उस खद्दरधारी से चौंक उठे। उन्हें लगा अनायास ही किसी ने पीछे से मुक्का मार दिया है। बोले, 'भाई साहब, यदि आप ऐसा न करें; तो आपको हानि क्या है ?'

'तब मैं राष्ट्रद्रोही हूँ। आज राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को सुधार के कार्य में लग जाना है । जहाँ कहीं भी कोई बुराई हो उसे दूर करना, ऊपर सूचना देना स्वतंत्र भारत के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है । यदि बुराइयाँ छिपाई जायंगी और उन्हें दूर करने की चेष्टा न होगी। तो भारतीय मिट जायंगे ।'

' यह तो नेहरू और सरकार का काम है । उनके कार्य में हम हस्तक्षेप क्यों करें ?' सेठ जी ने कहा ।

'नेहरू और सरकार तो केवल देश की गति-विधि की नीति ही बना सकते हैं; किन्तु अमल में लाना तो हम लोगों और जनता का ही कर्तव्य हैं । यदि जनता सहयोग न देगी, तो क्या कर लेंगे नेहरू और क्या कर लेगी सरकार !'

अन्य लोगों ने एक स्वर में कहा—'नहीं, नहीं, सरकार ने हम लोगों

क्रोध के चिह्न स्पष्ट थे, भीड़ को चीर कर बाहर आया और बोला—'यह हर्गिज, हर्गिज नहीं होने दूंगा। दुनिया को बहुत दिनों तक पागल बनाया, अब ज्यादा उम्मीद न कीजिये, सेठ जी! राष्ट्र की सम्पत्ति राष्ट्र के ही काम आयेगी, व्यक्ति का उस पर अधिकार न होगा और व्यक्तिगत या दलगत स्वार्थ अब नष्ट हो जायेंगे। इन बेचारे जाहिल किसानों को बरगलाकर गल्ला खरीदना चाहते हैं और बाजार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर 'काले बाजार' से अपना पेट बढ़ाना चाहते हैं? बंगाल का अकाल आपकी काली-करतूतों का उज्जवल चित्र है। शर्म नहीं आती आपको? वहाँ पर भी पूंजीपतियों ने नरपिशाच बनकर धन पैदा किया, किन्तु अब उसकी पुनरावृत्ति इस स्वतंत्र भारत में न होने पायेगी। मैं इसका विरोध करूंगा और ऊपर भी इत्तिला करूँगा!'

सेठ जी उस खद्दरधारी से चौंक उठे। उन्हें लगा अनायास ही किसी ने पीछे से मुक्का मार दिया है। बोले, 'भाई साहब, यदि आप ऐसा न करें; तो आपको हानि क्या है?'

'तब मैं राष्ट्रद्रोही हूँ। आज राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को सुधार के कार्य में लग जाना है। जहाँ कहीं भी कोई बुराई हो उसे दूर करना, ऊपर सूचना देना स्वतंत्र भारत के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। यदि बुराइयाँ छिपाई जायंगी और उन्हें दूर करने की चेष्टा न होगी। तो भारतीय मिट जायंगे।'

'यह तो नेहरू और सरकार का काम है। उनके कार्य में हम हस्तक्षेप क्यों करें?' सेठ जी ने कहा।

'नेहरू और सरकार तो केवल देश की गति-विधि की नीति ही बना सकते हैं; किन्तु अमल में लाना तो हम लोगों और जनता का ही कर्तव्य है। यदि जनता सहयोग न देगी, तो क्या कर लेंगे नेहरू और क्या कर लेगी सरकार!'

अन्य लोगों ने एक स्वर में कहा—'नहीं, नहीं, सरकार ने हम लोगों

के लिए कुछ नहीं किया। हम तो जैसे के तैसे रहे हैं। हाँ, स्वराज तो कुछ गिने गिनाए मुट्ठी भर लोगों को फला है। हम लोग भी मौका पाकर उससे लाभ उठाएँगे।'

खद्दरधारी सज्जन ने कहा—'मैं तो बापू जी के आदेशों की रक्षा करूँगा। इसका विरोध करूँगा। बापू जी अक्सर कहते थे, हमारे पाप ही हमें गिराते हैं। हमारे न्यस्त स्वार्थ ही हमें ले डुबते हैं। हमारे नैतिक पतन की जिम्मेदारी दूसरों पर नहीं, बल्कि हमारे ही कार्यों पर है। यदि कहीं भूकम्प आते हैं, और जनता मरती है; तो उसके लिए भी हमारे कार्य ही जिम्मेदार हैं। अगर कहीं अकाल पड़ता है, तो उसके लिए भी हम उत्तरदायी हैं।'

'कुछ नहीं, सब कपोल-कल्पना है।' एक स्वर में आवाज आई।

एक घण्टे पश्चात्—

सेठजी के सामने गल्ले के ढेर लग गए और उनकी खरीद आरम्भ हो गई, मुनीम जी धड़ाधड़ रुपये का भुगतान कर रहे थे। सेठजी के चेहरे पर प्रसन्नता की छटा नाच रही थी। वे सोच रहे थे—इस साल एक फैक्टरी और खोल सकूँगा और बम्बई की अमुक फिल्म कम्पनी के एक हजार शेयर लेकर डायरेक्टर बन जाऊँगा। पहले फिल्म से ही लाखों कमा लूँगा। फिर 'कार' भी पुरानी हो गयी है, इसे भी बदलना है। एक बँगला भी बनवाना है......आदि-आदि।

सेठ जी के दिमाग के अन्दर न जाने कल्पना के कितने भवन बने और उन्हें स्वर्गतुल्य सुख का अनुभव होने लगा।

सेठ जी ने नम्बरदार दुलारे पाण्डेय की कृपा और सहयोग के लिए धन्यवाद दिया और जलपान कर मोटर पर शहर की ओर उड़ चले।

दूसरे दिन!

गाँव में एक दुर्घटना हो गयी। खद्दरधारी सज्जन का घर पूरी तरह से जलकर ख़ाक हो गया था और वे एक बंगले में अपने बाल-बच्चों

को हटा रहे थे। किसी ने भी उनके घर की आग नहीं बुझाई और सभी उन्हें कटु शब्दों से स्मरण करते थे। परन्तु उनके चेहरे पर किसी प्रकार की शिकन न थी और क्रोध न था। वे सोच रहे थे—अच्छे कार्य में हमें अन्तिम समय तक जुटे रहना चाहिए। विरोध के भय से पराजय स्वीकार करना सच्चे सत्याग्रही का कार्य नहीं।

एक दिन सेठ जी ने समाचार-पत्र में पढ़ा : गंगा जी में भयंकर बाढ़ आ रही है। वे मन ही मन पुलकित हो उठे। सोचने लगे—चलो, यह भी ईश्वर की ही सहायता है। गंगा के किनारे के गाँवों का गल्ला भी गया। अब हम एक के दस पैदा करेंगे और इस साल भी लाखों हाथ लगेंगे।

बगल में बैठे मित्र ने कहा—'सेठजी, इस बार तो पाँचों घी में हैं। अब तो आपकी दूसरी फैक्ट्री भी चल सकेगी।'

'वही भगवान देते हैं। आप सबकी कृपा।'

तीसरे दिन

सेठ जी अपने ड्राइंगरूम में मित्रों के साथ सिगरेट के कश खींच रहे थे कि एक आदमी उनके सामने आकर खड़ा हो गया। बोला—'सेठजी, नम्बरदार ने आपको इसी समय बुलाया है।'

'क्या कहीं चांस लड़ गया?'

'मैं कुछ नहीं जानता, सेठ जी।'

सेठ जी खिल उठे। सोचने लगे—कहीं टिप्पस भिड़ गई है। गल्ले को निकालकर रकम ले आना भर है। मुनीम जी को बुलाकर कहा—'चलिए, साथ चलिए, रुपये लाने के लिए भी व्यवस्था कर लीजिए। साथ में जमादार को भी ले लीजिये और बन्दूक भी।'

मोटर चल पड़ी।

लगभग तीन घण्टे पश्चात् सेठ जी दुलारे पाण्डेय के दरवाजे पर

आकर खड़े हो गये। बोले—'आज्ञा कीजिए, भगवन् ! कैसे याद किया आपने ?'

एक लम्बी साँस लेकर दुलारे पांडेय ने कहा—'आपने बड़ी देर कर दी सेठ जी ! सब खेल ही समाप्त हो……!'

'क्यों, कैसे ?'

गंगा की वेगमयी अनन्तधारा की ओर उंगली उठाते हुए बोले—'सब गल्ला स्वाहा हो गया ?'

'सब खत्तियाँ, सब !' आश्चर्य-चकित हो सेठ जी ने पूछा ।

'जी, सब !' उत्तर मिला ।

'कहाँ थीं खत्तियाँ ?'

'अब तो, जो हैं सो उस स्थान का भी पता नहीं चलता !'

'उफ् ! हम मर गये !' एक दीर्घ निश्वास छोड़कर सेट जी बैठ गये। उन्हें गश-सा आ गया। दुलारे पाण्डेय ने कहा, 'रात में मैंने गल्ला हटाने की बड़ी चेष्टायें की, परन्तु गल्ला इतना ज्यादा था कि दो-चार दिन का समय भी काफी न था। और रात भर में सब खत्तियाँ गंगा के गर्भ में समा गईं जो हैं सो… ।'

सेठ जी को जैसे काठ मार गया था। वे रोते-मन शहर को लौट रहे थे। गांधी जी ठीक कहते थे हमारे पाप ही हमें ले डूबते हैं।

तीन दिन बाद समाचारपत्रों में यह भी प्रकाशित हुआ, सेठ रामदास जी के दायें अंग में लकवा (पक्षाघात) मार गया और उनकी दशा शोचनीय है।

चौथे दिन यह भी समाचार प्रकाशित हुआ, सेठ रामदास जी के विरुद्ध प्रान्तीय सरकार ने ब्लैक मार्केट के अपराध में लगभग १३ मुकदमे चलाने का निश्चय किया है।

दीपावली का पुण्य अवसर। चारों ओर प्रसनन्ता की लहर दौड़ गई है। सभी अपने घरों की सफाई में व्यस्त हैं। किन्तु इस दुर्भाग्यशाली

गाँव में श्मशान का दृश्य उपस्थित है। आधा गाँव तो गंगा की बाढ़ में चला गया। घर उजड़ गये और लोग जिनके पास पहले कभी गल्ला था—आज दाने-दाने के लिए मोहताज हैं और अपनी गलती के लिए पछता रहे हैं। कहते हैं, 'हत्यारे के हाथ गल्ला बेचकर बड़ी गलती की। घर में त्योंहार के लिये एक दाना भी नहीं रह गया।'

और उधर सेठ जी सोचते हैं, बड़ी गलती की मैंने। गल्ला न मेरे काम आया और न जनता के ही। हानि तो हुई ही, जनता के बीच मुंह भी काला हुआ। ऐसी जिन्दगी से तो मौत ही अच्छी।



: १० :

प्रत्यावर्त्तन

आज सागर जब आफिस से घर लौटा तो देखा—पत्नी का अहंकार बहुत बढ़ गया है। वह बैठी-बैठी कुढ़ रही है। कुछ बोलती नहीं! उसका चेहरा तमतमाकर लाल हो गया है और जैसे पति को देखकर उसका रंग और भी गाढ़ा हो गया हो। मौका ठीक नहीं है। कुछ भी बोलना उचित न होगा। अगर बोला जायगा तो बुराई वापस-- उत्तर में मिलेगी। तब भला सागर क्योंकर बोले? माना, मानसी से बोलना अभीष्ट है। किन्तु कुछ तो समय की बात और कुछ ······? हाँ, और क्या, बात आगे चलेगी कि बस वह बिगड़ ही उठेगी। दिन भर का थका-माँदा सागर यह सब सत्कार संभाल भी सकेगा? तब, अप्रत्याशित रूप से, उसके अन्दर-ही-अन्दर हंसी की एक रेखा उठी और उठकर ज्यों ही बाहर आने को हुई कि उसको मूर्छा-सी आने लगी। बेचारे को इस हंसी-विनोद का मूल्य बड़ा तीखा मिलेगा न? मुँह छिपा सर से अंग्रेजी टोपी उतार कर हाथ में हिलाते हुए अपने कक्ष में आ गया। पहले सूट, फिर टाई, फिर कालर···और मोजे सभी कुछ बारी बारी से उतार कर रख दिये। तब कानों में कुछ तीखी-सी आवाज़ आयी। पूरी बात वह सुन नहीं सका। इतना भर जान सका कि नौकर पर मानसी खफा हो रही है। क्यों, ऐसी क्या बात हो गई, सो वह नहीं जान सका। पर जानने की बात उसके जी में न उठी हो, ऐसी बात नहीं। अभी कुछ समय बाद वह सब कुछ जान-बूझ लेगा। इतनी

उतावली की ज़रूरत ही क्या—यही सब अपने में स्थिर कर वह रोज़ की तरह चाय की प्रतीक्षा करने लगा। पर मानसी आज कुछ और हो गई थी; इसलिए आज वह चाय कैसे लाती? वह तो बस कुढ़ रही थी—जैसे उसकी जिन्दगी में यही सत्य है, यही श्रेय है-बस इसी को वह पाना चाहती है, सो भरपूर उसे मिल गया है।

खट, खट्, खट्!-जूतों की आवाज!

ध्यान मानसी का बंट गया। जी की उलझन अभी दूर नहीं हुई थी कि देखा, सागर खड़ा है—खड़ा है और याचना से उसकी आँखें कुछ गीली होकर बोल भी रही हैं?-नहीं, बिलकुल नहीं पढ़ रही है? या पढ़कर भी अपढ़ बन गई है, या ढोंग कर रही है? या उस भाषा को पढ़ लेना ही···? और वह खड़ा है उसके आगे। और हाय! वह ऐसी कुछ बन गयी है कि उसके पकड़ ही में न आवेगी। सदा दूर-दूर बनी रहेगी। अपनी महत्ता, गुरुता का उससे मूल्य चाहेगी?—?

तब?—'नहीं', 'नहीं' उसके जी में उठा। अरे सागर उसके लिए निष्ठुर पुरुष भर नहीं है। वह उसका मित्र है, साथी है, संगी है। वह है क्या नहीं? सब कुछ है वह उसके लिए? वह दैवता भी है? वह उसके सर्वस्व का स्वामी भी है?—मानसी का अन्तर हिल-डुल गया। चारों ओर से जैसे आवाज़ खिल उठीं-अरी बावली नारी, तू असत्य है। बस, केवल वह ही इस क्षण सत्य है। सत्य से तुझे घृणा क्यों हो? असत्य से इतना प्यार क्यों हो? असत्य का कोई अस्तित्व नहीं। सत्य ही चिरन्तन है, वही चिर शाश्वत है। उससे······।

और तब मानसी अपने स्थान से उठी। उठकर सागर के पास आयी। सागर बोला नहीं कुछ। वह खड़ा था, खड़ा रहा—निर्वाक्! सोचता था—देखूं, भला मानसी क्या कहेगी? आज भी कोई प्रस्ताव उसके पास है या नहीं?

यह सोचते-सोचते सागर का सारा अभिमान उसी में खो गया।

उसको अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बाहर से नहीं, बल्कि भीतर से। अभी तक उसका सारा सोचना, क्रोध और सब कुछ जैसे 'फुर्र' कर उड़ चला। देखा—मानसी रो रही है। उसका सब कुछ कहना रोने से ही सुना जा सकता है। बड़ी भावुक हो उठी है। अभी रूठी थी, लगता था, उसका देखना भी उसे अच्छा नहीं लग रहा है। पर अब कुछ ऐसी हो गयी है कि जैसे सागर की 'फिलासफी' गलत थी, उसका सारा मनोविज्ञान उसे धोखा दे रहा था। उसके सारे विचार हवा में किले बना रहे थे।

आखिर अब सागर की बड़ी विचित्र परिस्थिति है ?

वह भी तब क्या मानसी की तरह झुंझला उठे ? कह उठे—जाओ, जाओ ! यह सब मिथ्या है।

सागर बड़ा दीन हो उठा। बोला—'देखता हूँ तुम्हारी तबीयत आज इस समय कुछ ठीक नहीं है। हल्की-सी हरारत भी महसूस होती है। यह सब ऐसा क्यों होता है, आज तक मैं समझ भी तो नहीं सका। अरे ! और लो, क्या मैं इसीलिए कहता हूँ कि तुम और फूट-फूट कर, जोर-जोर से रो उठो ! तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं ! पैसा है, नौकर हैं, मोटर है। हाँ, आगे पीछे जिसकी तुम्हें ज्यादा चाह है, वह बच्चा भी···

साड़ी का एक छोर कन्धे से नीचे आ गया था। गले का हार और कीमती जवाहिरातों से युक्त इयरिंग डोलते हुए बड़े सुन्दर लग रहे थे। गोरे शरीर पर चम्पई रंग की उसकी साड़ी जैसे हवा में धीरे-धीरे डोलकर अपने सौभाग्य को सराह रही थी।

मानसी कुछ शान्त होकर बोली—चलो कमरे में चलें।

दोनों आगे बढ़े। रास्ते से फौरन लौटती बोली—'और चाय तो मैं भूल ही गयी। अभी-अभी लाती हूँ दो मिनट में। तुम चलो।'

बड़ा पश्चाताप हुआ उसे कि सागर को चाय नहीं पहुँच सकी और

उतावली की ज़रूरत ही क्या—यही सब अपने में स्थिर कर वह रोज़ की तरह चाय की प्रतीक्षा करने लगा। पर मानसी आज कुछ और हो गई थी; इसलिए आज वह चाय कैसे लाती? वह तो बस कुढ़ रही थी—जैसे उसकी जिन्दगी में यही सत्य है, यही श्रेय है—बस इसी को वह पाना चाहती है, सो भरपूर उसे मिल गया है।

खट, खट्, खट्!—जूतों की आवाज!

ध्यान मानसी का बंट गया। जी की उलझन अभी दूर नहीं हुई थी कि देखा, सागर खड़ा है—खड़ा है और याचना से उसकी आँखें कुछ गीली होकर बोल भी रही हैं?—नहीं, बिलकुल नहीं पढ़ रही है? या पढ़कर भी अपढ़ बन गई है, या ढोंग कर रही है? या उस भाषा को पढ़ लेना ही…? और वह खड़ा है उसके आगे। और हाय! वह ऐसी कुछ बन गयी है कि उसके पकड़ ही में न आवेगी। सदा दूर-दूर बनी रहेगी। अपनी महत्ता, गुरुता का उससे मूल्य चाहेगी?—?

तब?—'नहीं', 'नहीं' उसके जी में उठा। अरे सागर उसके लिए निष्ठुर पुरुष भर नहीं है। वह उसका मित्र है, साथी है, संगी है। वह है क्या नहीं? सब कुछ है वह उसके लिए? वह देवता भी है? वह उसके सर्वस्व का स्वामी भी है?—मानसी का अन्तर हिल-डुल गया। चारों ओर से जैसे आवाज़ खिल उठीं—अरी बावली नारी, तू असत्य है। बस, केवल वह ही इस क्षण सत्य है। सत्य से तुझे घृणा क्यों हो? असत्य से इतना प्यार क्यों हो? असत्य का कोई अस्तित्व नहीं। सत्य ही चिरन्तन है, वही चिर शाश्वत है। उससे……।

और तब मानसी अपने स्थान से उठी। उठकर सागर के पास आयी। सागर बोला नहीं कुछ। वह खड़ा था, खड़ा रहा—निर्वाक्! सोचता था—देखूं, भला मानसी क्या कहेगी? आज भी कोई प्रस्ताव उसके पास है या नहीं?

यह सोचते-सोचते सागर का सारा अभिमान उसी में खो गया।

उसको अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बाहर से नहीं, बल्कि भीतर से। अभी तक उसका सारा सोचना, क्रोध और सब कुछ जैसे 'फुर्र' कर उड़ चला। देखा—मानसी रो रही है। उसका सब कुछ कहना रोने से ही सुना जा सकता है। बड़ी भावुक हो उठी है। अभी रूठी थी, लगता था, उसका देखना भी उसे अच्छा नहीं लग रहा है। पर अब कुछ ऐसी हो गयी है कि जैसे सागर की 'फिलासफी' गलत थी, उसका सारा मनोविज्ञान उसे धोखा दे रहा था। उसके सारे विचार हवा में किले बना रहे थे।

आखिर अब सागर की बड़ी विचित्र परिस्थिति है ?

वह भी तब क्या मानसी की तरह झुंझला उठे ? कह उठे—जाओ, जाओ ! यह सब मिथ्या है।

सागर बड़ा दीन हो उठा। बोला—'देखता हूँ तुम्हारी तबीयत आज इस समय कुछ ठीक नहीं है। हल्की-सी हरारत भी महसूस होती है। यह सब ऐसा क्यों होता है, आज तक मैं समझ भी तो नहीं सका। अरे ! और लो, क्या मैं इसीलिए कहता हूँ कि तुम और फूट-फूट कर, जोर-जोर से रो उठो ! तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं ! पैसा है, नौकर हैं, मोटर है। हाँ, आगे पीछे जिसकी तुम्हें ज्यादा चाह है, वह बच्चा भी···

साड़ी का एक छोर कन्धे से नीचे आ गया था। गले का हार और कीमती जवाहिरातों से युक्त इयरिंग डोलते हुए बड़े सुन्दर लग रहे थे। गोरे शरीर पर चम्पई रंग की उसकी साड़ी जैसे हवा में धीरे-धीरे डोलकर अपने सौभाग्य को सराह रही थी।

मानसी कुछ शान्त होकर बोली—चलो कमरे में चलें।

दोनों आगे बढ़े। रास्ते से फौरन लौटती बोली—'और चाय तो मैं भूल ही गयी। अभी-अभी लाती हूँ दो मिनट में। तुम चलो।'

बड़ा पश्चाताप हुआ उसे कि सागर को चाय नहीं पहुँच सकी और

गन्ति बजने को आये। स्टोव जलाकर चाय तैयार की। ट्रे सजाई। आज नौकर के हाथ कुछ नहीं भेजा। सब कुछ वह स्वयं लेकर चाय की टेबल पर आयी। सागर सिगरेट का धूँआँ फेंक मन-ही-मन कुछ हंसा। रहस्य जान लेने की इच्छा हुई। परन्तु एकदम से…! अभी-अभी वह शान्त हुई है। फिर वही भारी गाथा सुनना-सुनाना बुरी बात होगी। वह चुप रह गया।

आदर के साथ मानसी ने चाय 'सर्व' की। दोनों ने पी।

पीते-ही-पीते वह बोली—तुम दुःख न मानना। आज मेरा जी खराब हो गया था। मुझे अक्सर ऐसा ही हो जाता है मैं क्या करूं? तुम नाराज…।

'नाराज भी हूँ तो किससे? कोई दूसरा दिखता तो नहीं।'

'और क्या अपने आपसे नहीं नाराज हुआ जाता?'

'मैं उधार रखता हूँ।'

'पागल हो गए हो? साफ-साफ क्यों नहीं कहते?'

……'मुझको प्यार नहीं करते। मुझसे नाराज हो तुम?'

'हाँ, नाराज होना भी सीखना चाहता हूँ—' कहकर वह हंस पड़ा। फिर बोला—'तुमसे सीख सकूंगा। तुम इस कला में बड़ी दक्ष हो।'

'नहीं, नहीं, मैं नहीं…' उत्तर में मानसी बोली।

तब उस दिन बात यहीं से समाप्त हो गयी थी। दोनों अपनी-अपनी ओर चल पड़े। सागर को सात बजे किसी मीटिंग में शरीक होना था। मानसी को भोजन की व्यवस्था करनी थी। जब वह रात की मीटिंग से लौटेगा तब वह उससे बातें कर लेगी।

इधर पिछली कई रातें मूसलाधार पानी होते बीती हैं। आज सुबह भी वही हाल है। आसमान खूब काला हो गया है। मृदंग की सी

गम्भीर आवाज उनसे कभी-कभी फूट पड़ती है। दिन कुछ अच्छा नहीं है। एक विचित्र प्रकार की उदासी चारों ओर जैसे मंडरा रही हो।

आज मानसी कुछ देर से सोकर उठी है। देखा—बादल और बादल। कमरे में जैसे रात का अंधेरा छाया हो। उसका अवसान अचानक गहरा पड़ गया। आँखें मिलमिलाईं। अंगड़ाई भरी और बिछावन पर बैठे-बैठे कुछ सोचती रही।

नौकर चाय तैयार कर चुका है। सागर पीकर अपने जरूरी काम से चला गया है। केवल मानसी······।

मुखमुद्रा से आज भी कुछ प्रकट हो रहा है। रोष या क्रोध, यह नहीं जाना जा सकता। कम-से-कम नौकर की हिम्मत नहीं कि वह उसके आगे पड़ जाय।

और तब उसने देखा—बगल के बिस्तर पर सागर नहीं है। कुछ कह भी नहीं गया, कहाँ जा रहा है। क्या उसका ऐसा करना जरूरी न था ? क्या उसे मेरी बिलकुल ही खबर नहीं है ? क्या मेरा अस्तित्व उसके निकट कोई और कुछ भी महत्त्व नहीं रखता ? क्या जितना भर वह है, बस उसी को लेकर वह पूर्ण है ?—या अपनी अपूर्णता भी वह पूर्ण समझे हुए है ? और तब मानसी अनमनी हो उठी। उसका मानस--प्रशान्त मानन—अस्थिर हो उठा ! उसे लगा—वह व्यर्थ है। इस दुनिया में बेकार ढकेल दी गयी है। किसी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसका क्यों सम्बन्ध हो ! और अगर हो भी, तो क्यों ?

बेचारी बड़ी उलझन में है। कैसे सुलझावे इस निगूढ़ पहेली को ? अपना पराया कोई उसकी सहायता भी नहीं करता !

'क्यों रे ! क्या वे चले गये ?'--पूछा मानसी ने नौकर से।

'जी !' कहकर वह चुप हो रहा।

'जी ! आखिर कहाँ गये हैं, क्या कह गये हैं ? यह सब क्यों नहीं बतलाता। जी कह देने भर से क्या होगा ?' खीज कर उसने कहा।

'मुझे कुछ भी मालूम नहीं है।'

तब क्या हो? वह रो पड़े? आँखों में पानी भर लाये? कुरेद-कुरेद कर अपने जी को खराब कर दे? हाथ-मुंह धोकर कुल्ला आदि भी कर चुकी है। बैठी है चुप। कुछ मनबुझाव कर रही है। नौकर चाय की ट्रे लाकर उसके सामने रख देता है। वह पूछती है—'यह क्या?' यद्यपि देख रही है, चाय है।

नौकर बोला—'चाय।'

'चाय, चाय और ले! हाँ तो!' वह एकदम खीज उठी। उसने 'सुगरपॉट' उठाकर ज़मीन पर पटक दिया। वह जब चूर-चूर हो गया, तब 'कप' को उठाया और दे मारा—चट्ट! वह भी टुकड़े-टुकड़े हो फ़र्श पर बिखर गया। कारपेट बड़ी बुरी लग रही थी। बोली—'आखिर, ऐसा भी क्या? चाय, मीटिंग, कम्पनी, रुपये और कण्ट्रेक्ट ही सब कुछ नहीं हैं। एक क्षण भी घर पर नहीं टिकेंगे।' और सँभलकर सोचने लगी—यह सब बातें वह किससे कह रही है, दीवाल से, नौकर से या टेबिल-कुर्सी से?

क्षोभ हुआ उसे! देखा—सामने पुस्तकों की दुकान है। वहाँ पर कुछ महिलाएँ अपने स्वामियों के साथ हँस-हँसकर पुस्तकें, अखबार खरीद रही हैं। अभाव उनमें टिक नहीं पाता। वे जैसे पूर्ण हैं। यदि उनमें कुछ कमी थी, तो उनके स्वामियों ने उसे पूरा कर दिया है। एक बोली—'मिस्टर वांचू, आज बड़ा सुहावना दिन है। हम लोग गंगा के पुल पर चलें।'

और कार चल पड़ी।

ऊपर से वह बड़बड़ाई। ईर्ष्या से बोली—मन-ही-मन—बड़ा सुहावना दिन है।

नौकर सब साफ कर चुका था। चाय उसने नहीं ली।

इधर-उधर आँखें दौड़ाईं । देखा—दुनिया अपने आप में खुश है । बस वही एक है जो···।

खूब सुन्दर वस्त्र निकाले । कीमती आभूषणों का डिब्बा सामने रख लिया । सँभाल-सँभालकर, मुदित मन से, एक-एक को पहना । लेकिन फिर भी उसका जी सन्तोष-लाभ न कर सका । एकाकीपन जैसे उसे खा जायगा—अरे ? तब वह क्या करे ?—इन काले-काले बादलों को देख उसका जी और भी उद्भ्रान्त हो उठा । सुन्दर वस्त्र-भूषण धारण कर वह भी कहीं बाहर घूमने जाने को उद्यत हो उठी । पर दूसरे ही क्षण उसने अपने आपको अपूर्ण और अधूरा अनुभव किया । निश्चय किया—कहीं नहीं जायगी ।

सागर बम्बई गया था । वहीं से एक सुन्दर आदमकद दर्पण लाया था । वह उसने मानसी के कक्ष में फिट करा दिया था । 'स्टैण्ड' पर खड़ा वह बड़ा सुन्दर लगता था । इस ढंग से 'फिट' है कि आवश्यकतानुसार ऊपर-नीचे भी झुकाया जा सकता है । वह उस दर्पण को देखने लगी । नीचा किया कुछ ! अपना सारा शरीर ध्यान के साथ देखा । कुछ भी बुराई न जान पड़ी । साड़ी खूब खिलकर रह गई है । गोल, भरे-भरे, अरुणिमा लिये कपोल, सौन्दर्य और भोलापन चेहरे पर, आँखें बड़ी-बड़ी किन्तु सतृष्ण ! सजल हो-हो उठती हैं ।—और ये ईयरिंग, हार···। उसे लगा—बाहर से वह पूर्ण है ।

कमरे के भारी सन्नाटे में वह डूबने-उतराने लगी । सागर कब तक आयेगा ? क्या उसे उसकी अपेक्षा नहीं है ! तमाम धन रखा है, किन्तु उसी के पीछे पड़ जाना भी कैसा ? कल रात को आया । दूसरे दिन लखनऊ में मीटिंग थी । दो घण्टे रहा—चलता बना । वह अकेली यहाँ न रह सकेगी । साथ जाया करेगी या कह देगी—सब कुछ छोड़ घर पर रहो । उसे भय लगा करता है ।

अचानक कुछ याद आया, नौकर से बोली—'विनोद बाबू को बुला ला।'

—'बहुत अच्छा।'

और चुप हो बैठ गई प्रतीक्षा में।

विनोद नवयुवक है, कलाकार भी है, सौन्दर्य का पुजारी भी। जीवन के अन्तर में वास करनेवाला मानव! दुनिया की पीड़ा अनुभव करने वाला वैज्ञानिक! किसी के दर्द को देख मीठे-मीठे शब्दों द्वारा सान्त्वना भी दे सकता है। उसकी हँसी भी बड़ी रहस्यपूर्ण है! और भरा-पूरा चेहरा। खूब संवारे हुए सुन्दर लम्बे-लम्बे बाल। आज वह उससे जरूर पूछेगी—आखिर वह इस तरह बीमार क्यों हो जाया करती है। उससे बचने की कोई···और दस मिनट पश्चात् वह आया। मानसी झट उठकर खड़ी हो गई। आँखों में आँसू भरकर बनावटी हंसी हंसने की चेष्टा करते बोली—ओह! विनोद बाबू!! आइये पधारिये! आप भीग गये। मैंने व्यर्थ ही तकलीफ़ दी। बुरा न मानियेगा।'

विनोद हंसकर रह गया। क्या आज मानसी पागल हो उठी है। ऐसा 'मूड' कभी न पाया था उसने। बोला—'आप बैठिये तो सही! मैं आपको ज्यादा परेशान, चिन्तित नहीं देखना चाहता।'

—'पर आपका ऐसा सोचना ग़लत बात होगी।' और बोली—'अच्छा हाँ, एक मिनट की इजाज़त चाहती हूँ—आप भीग गये हैं। बड़ी तकलीफ़ दी। चाय मंगाऊं?'

दोनों ने चाय पी। विनोद सोचता-सोचता हैरान है—कि आखिर वह मानसी को समझ ही कहां सका है? वह उसे पूर्ण अर्थ में ग्रहण ही कहां कर पाया है? और उधर उसकी हैरानी, परेशानी बढ़ती ही जा रही थी। उसका जैसे दम घुटा जा रहा हो। वह मानो अपने

अतिरिक्त और किसी को देखना पसन्द नहीं करती। बोली—'मैंने बेकार के लिए ही आपको तकलीफ़ दी।'

—'तकलीफ़ कभी बेकार नहीं जाती!'

तब क्या जो तकलीफ़ वह स्व ˙ बरदाश्त कर रही है वह सार्थक है, ठीक है, उचित है?—वह सोचने लगी। सारा जीवन आन्दोलित हो उठा। यौवन की आँधी आ गई।

फिर बोली—'आपकी रचनाओं से मैं बड़ी प्रभावित हुई। कभी-कभी तो रो भी पड़ी हूँ। मुझे वे बड़ी 'अपील' करती हैं। मैं इसी को सफलता स्वीकार करती हूँ।'

विनोद ने देखा—और सचमुच ही वह रो पड़ी है।

—'आसमान के साथ आपका रोना बड़ा बेतुका है'—विनोद बोला।

—'मतभेद होना बुरा नहीं।'

इतना कहकर एक डिब्बा ले आई। उसमें बहुत-से चित्र थे। बोली—'अमुक चित्र उस समय का है, जब मैं बालिका विद्यालय में पढ़ती थी, वह कम्पनी बाग़, वह मेरी बीमारी और वह विवाह के समय का······'

तो विनोद क्या करे? वह परेशान हो उठा।

—'घबराइये नहीं!--हाँ, कई बार आपको बुलाने की चेष्टा की···'

—'लेकिन···' बात काटकर वह बोला।

—'फिर न जाने क्या सोचकर चुप रह जाना पड़ा। आज भी मेरी समझ में नहीं आता कि मैंने क्यों आपको तकलीफ दे डाली। आप बुरा तो नहीं···'

—'नहीं बिल्कुल नहीं!'

—'कांग्रेस कमेटी का कार्य कैसा चल रहा है ? आपकी कोई दूसरी कविता-पुस्तक···?'

विनोद ने समझाया—अमुक मोहल्ले में इतनी गिरफ्तारियाँ हुई हैं। कुल टोटल इतना हुआ। कार्य अच्छा चल रहा है। पुस्तक प्रेस में है।

—'अच्छा, तो उसकी एक प्रति मुझे भी दीजियेगा।'

उसने कहा—'जरूर।'

—'मेरा जी आज़ अच्छा नहीं है। आप···'

भों, भों !—नीचे से मोटर का हार्न सुनाई पड़ा। कार सागर की थी। वह ऊपर आया। उसने देखा—दोनों आपस में विचार-विनिमय कर रहे हैं।

विनोद और मानसी के चेहरे कुछ अप्रतिभ हो उठे। पर मानसी उसी प्रफुल्लता के साथ खड़ी हो बोली—'आओ ! इधर, इधर !' अपनी कुर्सी आगे बढ़ा दी। बग़ल में पड़ी कुर्सी पर स्वयं बैठ गई। बोली—'आपका परिचय पाकर तुम बड़े प्रसन्न होगे। आप सामने के मकान में रहते हैं—पड़ोसी हैं। बड़ी सुन्दर कविता लिखते हैं। आपका चारों ओर नाम है।'

लेकिन नाम बतलाना तो फिर भी वह भूल बैठी। ग़लती सुधारते हुए बोली—'क्षमा करें। मैंने आपका शुभ नाम तो बतलाया ही नहीं। आपको विनोद बाबू कहते हैं।'

'आपका परिचय पाकर मुझे बड़ी खुशी हासिल हुई। कभी-कभी हम नीरसों पर भी पधारकर कृपा करते रहा कीजिये।'

—'ओह ! कृपा की क्या बात ?'

—'नहीं, कवि और कलाकार की पद-मर्यादा बड़ी ऊंची होती है। क्या यश पा लेना ऐसा आसान कार्य है ?'

'क्या धन एकत्र कर लेना ऐसी मामूली बात है ?'

—'वह सब कर सकते हैं'—कहकर सागर दूसरे कमरे में चला गया। टूटे चीनी मिट्टी के बर्त्तनों का एक ओर ढेर लगा था। बोला—'यह क्या रे !'

—'बाईजी से टूट....'

विनोद इजाज़त ले चुका था। मानसी अपने कमरे में बिस्तर पर लेट गई। धीरे-धीरे रोती रही अकारण। वेदना बहुत बढ़ गई थी। आज उसके जी को कोई कुरेद रहा था।

सागर ने गले से लगाया। पुचकारा, खूब प्यार किया, सान्त्वना दी। पर वह रोती ही रही—रोना बन्द ही नहीं हो रहा है।

सागर बोला—'वह देखो, न जाने कितना सामान तुम्हारे लिये ले आया हूँ।'

झुँझला उठी वह। बोली—'मुझे कोई बीमारी हो गई है। जी ठीक नहीं रहता। सन्नाटा मेरा गला घोटने लगता है। आज सुबह से जी उचाट-उचाट है। वे तमाम कप तोड़ डाले...।'

'और आ जायेंगे ! अगर इनके तोड़ने से तुम्हारा जी ठीक हो जाता है तो इनके टूट जाने में मुझे खुशी ही होती है। और ला दूं ? मैं चाहता हूँ कि किसी प्रकार तुम ठीक हो जाओ।'

तब सागर ने मानसी को और जोर के साथ अपने बाहुपाश में आबद्ध कर लिया।

वह और वेग के साथ रो उठी। सागर बोला—'तुम कहीं पागल तो नहीं हो रही हो ?'

उस दिन फिर खूब बातें हुईं। तबीयत ठीक होने पर चाय आई, पी। समझौता हो गया। मानसी ने अपनी त्रुटि के लिए क्षमा-याचना की।

सागर बोला—'मैं क्षमा नहीं करूंगा।'

वह हँस उठी।

दिन-रात-मास बीत रहे हैं—बीतते चले जा रहे हैं। दुनिया आगे की ओर बढ़ रही है। कल जो कुछ हम थे, आज नहीं हैं और आज जो कुछ हैं, जिस रूप-रेखा में हैं वह आनेवाले काल में न रह जायेंगे। परिवर्तन सत्य है। वह एक ऐसा चक्र है, जिसे कोई रोक नहीं सकता। सबमें परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगत होते हैं।

जिन बातों और घटनाओं का ऊपर जिक्र किया गया है, वे सब बहुत पीछे छूट गयी हैं। मानसी में बड़ी रद्दोबदल हो गयी है। उसके अन्दर अब किसी प्रकार का विकार नहीं रह गया है। उसकी बीमारी दूर हो गई है। अब बस किसी भी स्थान पर आनन्द के साथ रह सकती है। उसे न अब एकाकीपन सताता है और न वह रोने ही लगती है। पुरुषों से ज्यादा बोलना अच्छा नहीं लगता। उसकी गोद में चाँद-सा एक सुन्दर 'बेबी' है—बच्चा! उसकी हंसी में बस संसार का मानों सब कुछ पा लेती है। पति की परवाह नहीं रहती! वे कहीं भी, कितने दिन रहें, उनका अभाव अब उसे नहीं खटकता। दुनिया का सारा दुःख वह अपने 'बेबी' को देखकर भूल जाती है।

कभी-कभी घण्टों उसे उछाला करेगी। उसके साथ स्वयं हंसेगी। पालने में पागल हो-होकर उसे झुलावेगी। भूल जायेगी सब कुछ।

अभी परसों उसका छोटा भाई उसे ले जाने के लिए आया था। सागर ने एकान्त में पूछा—'क्या सचमुच तुम जाना चाहती हो?'

—'जरूर-जरूर!'

—'और तुम्हें वहाँ अकेले अच्छा भी लगेगा? तुम परेशान न होगी वहाँ!'

—'खूब अच्छा लगेगा वहाँ। और अब मैं अकेली ही कहाँ हूँ'—कहकर वस मुस्करा पड़ी और अपने छोटे लाल को चूमकर छाती से लगा लिया।

सागर को अब कभी-कभी अपनी पत्नी के इस परिवर्तन पर आश्चर्य होता है।

: ११ :

समझौता

केतकी और अशोक में आज तक कभी नहीं पटी है। अक्सर वे दोनों आपसमें लड़ते-लड़ते युद्ध के लिए उद्यत हो जाते हैं। माँ को बड़ी पीड़ा होती है और त्रास मिलता है। अगर वह पुत्र का पक्ष लेती है, तो बहू डाँट बताती है और अगर वह बहू की ओर से बोलती है तो अशोक के निकट कड़वी बन जाती है और परिणाम-स्वरूप अशोक बस लगातार कई दिनों तक अनशन करना प्रारम्भ कर देता है। सैकड़ों मनौतियाँ, मनुहार, चिरौरी, बिनती करानेके बाद कहीं अशोक की लगाम माँ के हाथ आ पाती है। इसलिए बहुधा वह इन दोनों के बीच आने से डरती है, घबराती भी है और उधर अशोक जब देखता है, माँ हट रही है, तब अपने झगड़े की कीचड़ में उसे घसीटने की चेष्टा करता है। माँ कहती है—'ना बाबा! मैं कुछ नहीं जानती। तू जाने और वह जाने। यह सब मेरे मान का नहीं।'

लेकिन कुछ भी हो, इतना अवश्य है, माँ के हृदयमें केतकी के लिए विस्तृत स्थान है, अधिक स्नेह है। यदि अशोकके कहने पर वह उसे कुछ कहेगी भी, तो बहुत दबी आवाज में, और बस यही तो उस युवक अशोक को खल जाता है। बड़बड़ाता वह बाहर निकल जाता है—मुझे अब घर भी छोड़ देना पड़ेगा और इस केतकी को भी छोड़ देना पड़ेगा।"

आज इस घर में ऐसी ही कुछ बात हो गयी है।

अशोक बोला—'चाय पीऊंगा।'

बात बहुत छोटी, पर समय की न थी। एक सुन्दर शय्या पर, एक ओर केतकी लेटी-लेटी कुछ पढ़ रही थी। सुना उसने, जैसे नहीं भी सुना। अपने अन्दर सोचने लगी—"मैं तो समझ ही रही थी कि बस अब कोई फरमान लागू ही होनेवाला है। देख लिया है न, मैं..."

'चाय, चाय, चाय!' किञ्चित् क्रोधके साथ और झंझट बढ़ाने—बल्कि पैदा करने—की मनःस्थिति से उसने अपना मुंह केतकी के कक्षकी ओर करके कहा—

'मुझसे कह रहे हो?' प्रश्न किया केतकी ने।

'जी नहीं आप लेटी रहें। इन दीवारों से कह रहा हूँ।'

'अच्छा, आप दीवारों से कह रहे हैं? बहुत खूब! अगर चाय पीनी है और मुझे भी पिलानी है, तो दासी से कह दीजिये। मेरे सिर में आज दर्द है।'

'जब कभी मुझे चाय पीनी होती है, तभी तो आपके सिर में दर्द होता है।'

बात बढ़ गयी। दोनों अल्हड़ और नादान। लेकिन केतकी अशोक को अन्दर से, कितना चाहती है इसका जिक्र करना व्यर्थ है। धन-धान्य से पूर्ण परिवार है। सभी तरह की सुविधाएं हैं, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, आर्थिक कष्ट नहीं। अशोक के पिता बैरिस्टर थे। अपने पीछे काफी सम्पत्ति छोड़ अभी स्वर्गवासी हुए हैं। केतकी भी ऊंचे, और सम्पन्न परिवार की है। लाड़-प्यार में पली है। और यहाँ ससुराल में भी उसे अपनी सास का पूरा प्यार मिल गया है।

माँ बोली—'अच्छा तू ही बना दे, बेटी! छोटी न हो जायगी। स्टोव लेले...'

'मैं बनाती हूँ माँ। ये तो धीरज खोये दे रहे हैं।' कनखियों से मन्द मुस्कानके साथ अशोक को देख केतकी बोली।

'न, मैं चाय नहीं पीऊंगा, नहीं पीऊंगा! बस, अब मैं आज ही घर छोड़ दूंगा। बहुत हो चुकी। ऐसा सत्कार मुझे न चाहिये।' अशोक ने उत्तर दिया।

'तू तो बस; तुझे समझाना कठिन है। अब वह जब चाय बना रही है, तू अपने ढाई चावल अलग पका रहा है।'

'तुम हमेशा मेरे साथ ज्यादती करती हो। यही तुम्हारा इन्साफ है? सुना नहीं तुमने, उसने मुझे क्या जवाब दिया है? मां से प्रगल्भता के साथ अशोक बोला।

'यही तो उसने कहा है कि सिर में दर्द है, दासी से चाय बनवा लो.........है। उसने इसके अलावा और क्या कह दिया, तू ही बता न?' मां ने उत्तर दिया।

'तुम्हारे सिर में दर्द है, उसके सिर में दर्द है, दासी के सिर में दर्द है, और यह लो मेरे भी सिर में दर्द है।' कहकर वह अपने कक्ष में गया। सारी पुस्तकें समेटीं, एक ट्रङ्क में कपड़े रखे और बोला—'यह लो, अशोक चला। अब सब सुख से रह लो।'

यह तो अशोक की प्रकृति है। झगड़ा बढ़ा वह अपनी सारी गृहस्थी अपने पास एकत्रकर बाहर जाने की धमकी देने लगता है।

लेकिन नारी केतकी यह सब सहन नहीं कर पाती। उसका कोमल हृदय भारी हो उठता है। दुनिया का सारा दर्द उसके अन्दर भर जाता है। वह इस दृश्य को देख भय से काँप उठती है। वह सोचती है—क्रोधी हैं। कहीं कुछ कर न बैठें। अपने को क्या न कर डालें? यह हानि इनकी नहीं मेरी है। मैं इनकी और जीवन भर ये मेरे अपने हैं। साथ ही, ये ऐसे हैं, जिन्हें पाकर कोई भी नारी अपने को कृतार्थ समझेगी।

केतकी की मुद्रा गम्भीर हो उठी। उसकी जिद्द, उसका मान, उसका उल्लास समाप्त हो गया। पुस्तक धीरे से एक ओर रख दी और चाय की तैयारी में, बिजली की तेजी से जुट गयी है।

माँ वहाँ से हट गई है। इन दोनों को समझौता करने का अवसर दे दिया है।

'लेकिन तुम तो ऐसे नाराज हो जाते हो...।' केतकी ने कहना प्रारम्भ किया।

बात बीच ही में काटकर बोला अशोक— 'हाँ, मैं ऐसा नाराज हो जाता हूँ···तो फिर किसी का डर...किसी का दिया खाता हूँ ?'

'बहुत नाराज हो; सच ?' कुछ विनती के स्वर में बोली केतकी।

'बहुत, बहुत, बहुत !' तीन बार, एक साँस में, कह गया अशोक।

'अच्छा चाय लाती हूँ; तब तो...'

कहकर चल दी वह।

'मैं ? मैं चाय नहीं पीऊँगा। पीना तो दूर, छू भी नहीं सकता। मेरी जिद्द बहुत खराब है।'

वह दौड़ी-दौड़ी गयी और पाँच मिनट में चाय बनाकर ले आयी।

माँ ने कहा—'मान जा बेटा, पी ले। बेचारी के सिर में दर्द है। सोच, उसने कितना कष्ट किया है, तेरी जिद्द रखने के लिये।'

'नहीं पीऊँगा' अशोक ने कह दिया।

माँ वहाँ से हट गयी। दोनों में खूब बातें हुईं। केतकी नम्र थी और अशोक उसकी नम्रता का नाजायज फायदा उठा रहा था। साथ ही वह मन-ही-मन खुश भी था, कैसा छका रहा हूँ। सोचता था--'अभी नम्र हो जाऊँगा, तब फिर आगे केतकी उसे...और इसलिए वह और मुंह फुला-फुलाकर, गला फाड़-फाड़कर केतकी से बातें करता था......सब निर्णय हो जायगा। देखता हूँ, माँ कहाँ तक साथ देंगी; उन्हीं के बल पर तुम भूली हो ? क्यों न ?'

'नहीं तुम्हारे क्रोध पर भूली हूँ।' करुण स्वर में केतकी बोली।

इस बार अशोक अपनी हँसी रोक नहीं सका। थोड़ा मुस्कर

बोला—'अपने को भूलो, मुझे भूलो। फिर अब तो मैं घर में रहने से बाज आया। तुम रहो, सुख से रहो।'

केतकी कोमल है। वह डर रही है, कहीं ऐसी बात न निकल जाय कि उसका परिणाम भयंकर हो। इसलिए वह सँभल-संभलकर बोल रही है।

'अच्छा, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, चाय पीलो, ठंडी हो रही है। देखो ऐसे निठुर न बनो, मेरी भी सुनो।'

'नहीं पीता, नहीं सुनता, किसी का डर ?' गरदन एकदम टेढ़ी कर, भृकुटी चढ़ाते हुए बोला अशोक।

केतकी डर गई। बड़े क्रोधी हैं ये। बापरे! ऐसा क्रोध तो देखने में नहीं आया।

माँ बाहर-ही-बाहर यह नाटक देखती-सुनती रही। उसे हँसी आ रही थी।

लेकिन आज भावातिरेक में वह भी हो गया, जिसकी पहले कभी आशा नहीं की जाती थी। उस अतिशय भावप्रवीण अशोक ने हृदय कड़ा किया। एकदम उठ खड़ा हुआ। सामने की टेबिल पर रखे चाय के कप को हाथों में उठा लिया। केतकी से बोला—'तुम कहती हो, मैं पीलूँ ?'

'मुझ पर कृपा होगी। बिनती करती हूँ।'

दूसरे ही क्षण कप दूर फर्श पर टुकड़े-टुकड़े होकर चूर हो गया।

माँ सन्नाटे में आ गयी और केतकी डर से काँप उठी। भय से व्याकुल हो माँ से लिपट गयी।

अशोक ने अपना होलडाल ठीक किया। ट्रंक में पुस्तकें रखीं। कपड़े पहने। हाथ में छड़ी ली और बाहर निकल बरामदे में आ नौकर से बोला—'बिहारी स्टेशन के लिए ताँगा ले आ।'

ताँगा आ गया। सामान रख दिया गया। इस क्षण किसी की चूँ करने की हिम्मत न थी। विषय बहुत गहरा और संगीन हो गया था। कहीं और न बढ़ जाय, इस भय से कोई कुछ न बोला। माँ और केतकी दोनों उसे ताँगे पर जाते हुए खिड़की से सजल नयन देखती रहीं।

घर में उस दिन फिर किसी ने खाना नहीं खाया। सब अपनी-अपनी ओर मन मारे लेटी रहीं। केतकी लज्जा के कारण मरी जा रही थी। वह लेटी थी और उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। सोचती थी—मैं इन्हें कितना प्यार करती हूँ, कितना चाहती हूँ, लेकिन ये...! लेकिन भारी अपराध आज मुझसे हो गया। सारी जिम्मेदारी मुझपर है। भले ही माँ मुझसे न कहें। लेकिन चाय बनाने की बात कितनी छोटी थी; कितनी हल्की थी और वह कर सकती थी। पति-सेवा के आगे सिर-दर्द भी कोई बहाना है?

केतकी का जी भर आया। वह रोने लगी फूट-फूट कर। उसके जी में आया उसका जीवन व्यर्थ है, उल्लासहीन है, तत्वहीन है। वह पूरे अर्थ में अशोक की है और अशोक उसका अपना है। यह दुराव कैसा? आज्ञापालन में यह विवशता कैसी? उस कोमल नारी के अन्दर यह अहंकार कैसा? पूजा-अर्चना विश्वास को लेकर होती है। नारी की पति का विश्वास खोकर; कोई भी समाजगत स्थिति नहीं है। वह अविश्वसनीय नहीं बनेगी।

तब तक नौकर स्टेशन से लौट आया। माँ ने पूछा—'कहाँ गया है?'

'बनारस का टिकट कटाया है।'

'ठीक, अपनी मौसी के यहाँ गया है।'

इस वियोग-क्षण को केतकी नहीं संभाल सकी। माँ के पास आ

रोने लगी। माँ ने कहा—'बबुआ नहीं है कि खो जायगा। अपनी मौसी के यहाँ बनारस ही तो गया है।'

'न' माँ उन्हें तार देकर बुला लो। मैं उन्हें अब देखे बिना नहीं रह सकती।'

तार दे दिया गया।

दो दिन बीत गये। किसी ने खाना नहीं खाया। माँ के लाख समझाने-बुझाने पर भी केतकी एक ग्रास भी न ले सकी। बूढ़ी माँ भी परेशान हो गई थी। कहती थी—'बुढ़ापे में यदि नाटक देखना बदा था। ऐसे बेटे-बहू से परमेश्वर बचाये।'

\+ \+ \+ \+

तीसरे दिन सन्ध्या समय एक ताँगा दरवाजे पर खड़-खड़ करता आ लगा। नौकर बड़ी तेजी और उत्सुकता से समान उतारने लगा। अशोक सीधा माँ के पास गया। चरण-रज मस्तक पर ले बोला—'माँ तार देने की क्या जरूरत थी ? मौसी को यह समझाने के लिये कि अशोक घर से नाराज...,

'नहीं बेटा, केतकी व्याकुल जो हो रही थी।'

'मुझे उसकी परवाह नहीं है' क्योंकि उसे मेरी परवाह कब है ?''

'मुझसे ज्यादा उसे तेरी परवाह है। तीन दिन होगये, खाना तक नहीं खाया। जा देख उसका बुरा हाल हो गया है। उसे बुखार कितना है।'

बस, अशोक का सारा क्रोध 'उसे बुखार कितना है' सुनकर हिरन हो गया। बनावटी क्रोध के साथ बोला—'होगा बुखार, मैं क्या करूँ ?'

फिर माँ के पास से उठकर सीधा—तीर की तरह—केतकी के कक्ष में चला गया। देखा—सच ही उसे बुखार है। वह कराह रही है।

केतकी अशोक को देख रो उठी। उसके आँसू टिकते ही न थे।

अशोक बोला—'केतकी, देखो तुम्हें बुखार है। रोना ठीक नहीं। कहीं तबीयत ज्यादा खराब हो जायगी, तो लेने के देने पड़ेंगे।'

'मेरा बस क्या ?'

'शान्ति धारण करो।'

'मैं भी तो तुमसे यही कहती थी, लेकिन...'

'हाँ मुझसे अपराध हुआ है, केतकी। तुम मुझे क्षमा कर दो।'

'ईश्वर आपको क्षमा करेगा।' कहकर वह फिर रो उठी।

अशोक उसकी शय्या पर बैठकर उसके आँसू पोंछने लगा। उस समय केतकी की पीड़ा असीम हो उठी थी और अनन्त वेदना का सागर उसके अन्दर से बह निकला था।

अशोक पराजित हो गया था और लज्जित भी। उसकी आँखें इस केतकी के आगे नहीं उठ रहीं थी! वह अपनी भूल के लिए मन-ही-मन पछता रहा था। अधीन भाव से बोला—देखो, अब मुझे क्षमा कर दो, केतकी! मैं लज्जित हूँ, मैं हार गया। तुम महान् हो। तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति कितना स्नेह और ममत्व है, मैं समझता हूँ।'

अशोक की ओर केतकी करुण-भाव से देखती रही। उनकी आँखों में आँसू हीरे की तरह चमक रहे थे। मूक-भाव से समझौते का संकेत सा था।

अशोक को लगा जैसे सारा वातावरण खिलखिलाकर हँस रहा है और वह भी मुस्करा पड़ा।

दूर, एकान्त में बैठी माँ समझ गई, दोनों बुद्धुओं में समझौता हो गया है।



★

: १२ :

मृत्यु के पश्चात्

उस दिन सन्ध्या समय गिरीश उधर से जा निकला, तो उसने देखा—कोढ़ी अपने दोनों हाथ मल-मलकर, अपने फूटे भाग्य पर रो रहा है। उसके निकट एक क्षीणकाय बुढ़िया बैठी है। नेत्रहीन-सी। वस्त्र गन्दे। बदबू उसके आस-पास! कभी-कभी, कुछ बीच में, सान्त्वना भरी वाणी में कह देती है—'अब दुःख करने से क्या होगा ?' और कोढ़ी का रोना जैसे बन्द ही न होगा। रो-रोकर ही मर जायगा, ऐसा लगता है।

गिरीश ऐसे हृदय देख द्रवीभूत हो उठता है। वह उस कोढी के निकट पहुँच गया। देखा—दो प्राणी हैं। पुरुष के शरीर भर में कोढ़ है। उसकी दशा बड़ी दयनीय है। आँखों से धुंधला दिखलायी पड़ता है। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। उंगलियाँ आधी से अधिक, गल-गलकर, गिर गयी हैं। कभी-कभी कुत्ते उसके वस्त्रों को सूंघ पेशाब। और हाँ, कोढ़ी अपने दोनों हाथ मल-मलकर, अपने फूटे भाग्यपर, गिड़गिड़ा रहा है, ईश्वर से मृत्यु की कामना कर रहा है। उसका कष्ट असह्य है !

मनुष्य, मनुष्य से घृणा भी कर सकता है, इसका व्यक्तिगत अनुभव गिरीश को उस दिन, सन्ध्या समय ही हुआ था।

× × × ×

राजपथ पर इमली का एक बड़ा पुराना पेड़ है। उसकी राक्षस के हाथों जैसी विशाल शाखाएं इधर-उधर फैल गई हैं। उनके नीचे अनेक झोपड़ियाँ हैं। सुबह-शाम इस पथ की अभिनव शोभा देखते ही बनती है। सेठों

और धनिक परिवारों की गृहिणियाँ जब इधर से विविध रंग-रंजित वस्त्र धारणकर निकलती हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है, तितलियों की आँधी आ गयी है। गंगा-स्नान के लिए सैकड़ों भक्त 'सीताराम', 'सीताराम' 'जै शिव', 'जै शिव' कहते इधर से गुजरते हैं। कोई इन झोपड़ियों के गरीब अपाहिजों को देख सिर घुमा लेता है, किसी को चक्कर आने लगता है और कोई कोढ़ियों की दयनीय दशा पर घृणा से भरकर, पिच्च से थूक देता है। कुछ लोग यह सोचते आगे बढ़ जाते हैं—'अपने-अपने कर्म, जो जैसा करेगा वैसा भुगतेगा।'

गिरीश अक्सर यहाँ बैठ जाया करता है। उसके मित्र की यहाँ पुस्तकों की दूकान है। यहीं से बैठे-बैठे यह इन कोढ़ियों और भिखमंगों को देखता रहता है। गम्भीरतापूर्वक सोचता है—इनको अपना कहनेवाला इस संसार में कोई नहीं है। यदि है, तो वही इमली का पुराना वृक्ष! उनका रुदन, उनका क्रन्दन किसी को भाता नहीं। कौन सुनकर व्यर्थ की बातों को कानों के पर्दे से उतारे, उलझन मोल ले? ईश्वर सबका मालिक है। वही इनकी भी देख-रेख कर लेगा।

सोचता है गिरीश—कुछ लोग यह भी कहते होंगे, जिसने पैदा किया है, वही इन्हें खाने को भी देगा। पर यह इमली का पेड़ कुछ और ही सोचता है। इसकी 'फिलासफी' कुछ और ही है। जब कभी भिखमंगे रोते हैं, ध्यानपूर्वक सब कुछ सुन वह उनको सान्त्वना प्रदान करता है। भूख लगने पर अपने भण्डार को खोल देता है। कहता है—'लो, जी-भर मेरे फल खा लो। किसी को मूल्य में कुछ भी नहीं देना पड़ेगा। जो कुछ है, दे देता है। 'नहीं' नाम की संज्ञा से जैसे उसका परिचय ही न हो। जाड़े में आग जलाकर रात काटने के लिये लकड़ी देता है, गर्मी में शीतल छाया और बरसात में अच्छी झोपड़ी-सी बन जाता है। यद्यपि इसके फलस्वरूप उसे दण्ड भी मिलते हैं। कुपित इंद्रदेव जलप्लावन कर, उसके भीमकाय शरीर के अंग-अंग को झकझोर देते हैं, आँधी बेरहमी के साथ उसकी नस-नस

को हिला देती है, सूर्यदेव अपनी प्रखर उत्तप्त किरणों से उसे सर्वथा नष्ट कर देने की चेष्टा में निरत रहते हैं ! पर, इमली का पेड़ सब कुछ सुन-देख गम्भीर प्राणी की तरह मुस्करा भर देता है; जैसे कहता है—यदि सत्य और अहिंसा का पुजारी गाँधी अपने कर्तव्य पर दृढ़ है, तो भूमिसात हो जाने तक वह भी अपने कर्तव्य पर अटल बना रहेगा। यहाँ इन कोढ़ियों को अपनाने वाला ईश्वर है।

गिरीश अब अधिक गम्भीर हो उठा है। हाँ, तो देश के मजदूरवर्ग का नेतृत्व करती है, 'मजदूर सभा'; मुसलमानों का 'मुसलिम लीग' और शोषित एवं दलितवर्ग की 'रोटी का सवाल' हल करती है, राष्ट्रीय महासभा। परन्तु इनका अपना प्रतिनधि कोई नहीं। यदि है तो केवल यही इमली का बेचारा पेड़, सो भी अति वृद्ध, अति जर्जरित !

युवक गिरीश का मन जब इन बातों को सोचते-सोचते थक जाता है, या दुखने-सा लगता है, तो वह वहाँ से उठकर चल देता है। आगे गंगा जी की ओर टहलने बढ़ जाता है और जब अन्धकार छाने लगता है, तब लौट पड़ता है। हाँ, तो आज लौटते समय, अनायास ही, एक कोढ़ी के सिसकनेके करुण-स्वर ने उसके मन-प्राण को आन्दोलित कर दिया। वह चुपचाप, यथास्थान खड़ा हो, कोढ़ी और उसकी पत्नी के बीच चल रही बातों को सुनने लगा। कोढ़ी आवेश के साथ कह रहा था— 'न, मैं बिलकुल न पीऊँगा—बिलकुल ! पीना तो दूर रहा, मैं छूना भी हराम समझता हूँ।'

'ऐसा क्यों ?' स्त्री ने पूछा।

'क्योंकि अब और अधिक जीकर दुनिया के सुख भोगना पसन्द नहीं है।'

'दुनिया के सुख ?' स्त्री ने लम्बी साँस ली और अपने-आप में कुछ गुन-गुनाई। बोली—'लो, लो, पी लो, बहुत ढोंग न करो।'

हाँफने की आवाज। खांसी, खों, खों ! 'हाय राम रे !'

'घबराओ नहीं, तबीयत दो-चार दिन में सुधर जायगी।'

'आदमी की जिन्दगी का क्या ठीकाना सुक्खो ? तुम दो-चार दिन

ो बात चलाती हो, और यहाँ रात ठेलना''''हाय'''राम'''और फफक-
फक कर रोने की आवाज !

'अच्छा लो, दवा पी लो''''।'

अब सड़क पर सन्नाटा छा गया है। अभी कोई इक्केवाला अदा
साथ लोचभरे स्वर में 'पिया मिलन को जाना ।' गुनगुनाता निकल
या। आस-पास के अन्य कोढ़ी सो गये हैं। एक ओर से स्वर आ रहा
—

'जै सिया राम, जै-जै सियाराम.' और दूसरी ओर एक सन्त आग के
कट बैठे, अपना चिमटा खनकाते, गायन के स्वरके साथ, चिमटे की गति
लाते, गा रहे हैं—

'रघुपति राघव राजाराम''''।'

सन्नाटा बढ़ता जा रहा है।

'अच्छा, तो ले, अगर तू नहीं मानती तो मैं दवा पिये लेता हूँ।
ते-मरते तुझे क्यों'''?'

'बस, यही बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।'

'सत्य' कटु हुआ करता है। वह भी, आज तक, किसी को अच्छा
गा है।'

'हाँ, तुम तो सब'''!'

'झूठ क्या कहता हूँ मैं सुक्खो ? सारी जिन्दगी तूने मेरे साथ बिता
, दुःख झेलते-झेलते, और एक दिन भी मैं सुखी नहीं कर सका।
चता हूँ—ऐसे अभागों को उसने गढ़ा ही क्यों है?' और विनोद में
कर—'और हाँ री यह तो बता, तेरा नाम सुक्खो किसने'''?'

'नाम दुनिया रख लेती है।'

कराहते हुए कोढी ने पानी माँगा और उसने उठकर, उसके मुंह को
खोल, एक कुल्ला पानी छोड़ दिया। जब जी कुछ हलका हुआ, तो

कोढ़ी ने पूछा—'आज भी खैराती अस्पताल का डांगदर (डॉक्टर) कुछ कहता था ?'

'हाँ, कहता क्यों न था !'

'क्या कहता था ?'

'यही कहता था, शहर में तुम्हीं एक थोड़े ही हो ! जब मैंने उसकी बड़ी बिनती की, तब कहीं उसने दो दिन की दवा दी !'

× × ×

दूसरे दिन—

गिरीश दूकान से देख रहा है, मेले का दिन है। लोगों की टोलियां उन गरीबों को देख घृणा से सिर घुमा, आगे बढ़ जाती हैं। माताएं अपने बालकों को अपाहिजों की ओर न जाने और न देखने के लिए आज्ञा करती हैं। कुछ धर्मपरायण व्यक्ति सड़क पर बैठे, कपड़ा फैलाए, भिक्षुकों को दूर से अन्न-अमरूद दे रहे हैं, ताकि उनकी गरीबी···। धर्म करने में भी घृणा और स्वार्थ के बीज विद्यमान हैं। पुण्य-लाभ करने के पहले वे अपने हाथ, घृणा से भर कर, पाप कराने में लगा देते हैं।

'बाबू ! ए बाबू ! एक पैसा मिल जाय ! भगवान् तुम्हारा भला करें।' बुढ़िया ने दीनता प्रकट करते हुए, अति करुण स्वर में कहा।

गंगू को क्रोध आ गया। उसका एक-एक अंग काँप गया। वह बोला—'हरामजादी ने छू लिया, अभी-अभी नहा धोकर घर से निकला हूँ···।'

गंगू इसी बीच गिरीश के निकट आ गया। गिरीश ने पूछा—'क्या हुआ रे गंगू ? इस कदर बिगड़ क्यों रहा है ?'

'कुछ न पूछो मित्र ? देखो तो, नहा धोकर, साफ कपड़े पहन कर, मेला देखने के लिए घर से निकला था···।'

'उसका भी तुम्हारे भोजन में अधिकार है।'—बात काटकर गिरीश ने कहा।

'लुटाओ न तुम !'

'लुटाना बात दूसरी है। नंगे-भूखे को खाना-वस्त्र देना....।'

'अच्छा, अच्छा, मैं समझ गया। अपनी विद्वत्ता अपने ही पास जमा रक्खो।' बात काटकर वह बोला।

'तो उसका धन उसे वापस करदो।'

'कैसा धन ?

'आशीर्वाद, जो बिलकुल ही मुफ्त ले आये हो—बिना मूल्य !'

'ओह ! मारा-मारा फिरता है, ऐसा आशीर्वाद !'

'न, जिस अन्तर से और जिस पवित्र हृदय से वह निकलता है, वैसा तुम्हें अन्यत्र नहीं प्राप्त होगा।'—कहकर गिरीश उसके साथ हो लिया। दोनों ने उसे दो पैसे दिये। आगे चलकर गंगू बोला—'संसार में लाखों ऐसे मिलेंगे,कहाँ तक कौन इनकी सहायता करे, भाई ?'

'चूंकि यह सभी सोच लेते हैं, इसी कारण...?'

'उँह ! हटाओ भी ये बातें। कुछ काम की बातें करो यार !' गंगू बोला।

रात को सोते समय, उस बुढ़िया का चित्र अनायास ही गिरीश के नेत्रों में घूम गया। —वह मांसहीन शरीर, मुंहपर खिंची हुई झुर्रियाँ गन्दे वस्त्र, ज्योतिहीन आँखें, रोने का स्वर, स्वर नहीं आशीर्वाद—'भगवान तुम्हारा भला करें।' बिना मूल्य वह अपने इस मूल्यवान् धन, मंगल-कामना को बाँट रही है, वितरण कर रही है। गिरिश की आँखें आंसुओं से भींग गयीं। करुणा एकत्र हो गयी उसके अन्दर।

× × ×

तीसरे दिन—

गिरिश देखता है—कोढ़ी लापता है ! मलिनता चारों ओर छाई हुई है। भयानक उदासी अपना मुँह खोले, आस-पास दौड़ रही है। उस झोपड़ी में आज दीपक का धूमिल, मटमैला प्रकाश भी नहीं है किन्तु हाँ,

उस कोढ़ी की परिचर्या करनेवाली थी। ऐसी ठण्डक में भी, झोपड़ी के बाहर अपने फटे वस्त्रों पर हाथ फेरती फूट-फूटकर चिल्ला रही है—'हाय मोरे राम !'

पता नहीं, राम तक उसकी यह कमजोर आवाज पहुँचती है या नहीं ?

बगल की झोपडी का भिक्षुक कह रहा था—रो न बुढ़िया। उसकी तो बन गयी। भगवान् ने उसकी सुन ली। उसका मर जाना ही अच्छा था। बड़े कष्ट—'

गिरीश अपना खिन्न, उदास चेहरा ले मित्र की दूकान पर जा पहुँचा मित्र बोले—'बैठो, आओ।' और फ़िर क्रोधावेश में—'ये कमबख्त कोढ़ी सोना-बैठना भी हराम कर देते हैं।

और सात दिन पश्चात उस बुढ़िया का भी देहान्त हो गया, जो उस कोढ़ी के साथ बहुत लम्बे अरसे से रहती आयी थी।

आज गिरीश देखता है—शहर के उन्हीं सम्पन्न लालाजी ने कोढ़ी की याददास्त में, झोपड़ी के स्थान पर, एक समाधि बनवा दी है। उनका अपना ऐसा विश्वास है—कोढ़ी के आशीर्वाद के फलस्वरूप ही, दूसरे दिन उन्हें तीन लाख की लाटरी मिली थी। परन्तु कार्याधिक्य के कारण वे उस समय, उसके जीवनकाल में, उसकी खबर लेना भूल गये थे।

आज यहाँ महन्तदल भोजन पाता है। नंगे-भूखे उन्हें देखते हैं और···



: १३ :

तीन फ़ायर

खूब घनी-घनी अँधेरी रात। चारों ओर सांय-सांय! ऊपर आसमान पर, बादलों के ढेर काले-काले और सजग।

ठॉय, पहली फायर!

ठाँय-ठाँय, दूसरी फ़ायर!!

ठाँय-ठाँय-ठाँय, तीसरी फ़ायर!!!

तीन लाशें। हरी चुपचाप बाहर निकल अन्धकार में मिल गया। पिस्तौल़ की भयावनी आवाज दूर तक फैल-फैल जैसे कहीं लगी हो—'पिस्तौल का निशाना कभी गलत नहीं होता।···कितना ही संभाल कर क्यों न रक्खो तुम मुझे, परन्तु एक न एक दिन भयानक अन्धकार में···। पत्थर की तस्वीर-सी तुम खड़ी, अवाक् देखती रह जाओगी।'

और 'अनबूझ लड़की' चुपचाप खड़ी है। सोचती है—एक दिन हरी ने झुंझला कर कहा था—जो हाहाकार और क्रन्दन, जो बुभुक्षिता और बेकारी, असमर्थता और निराशा हमारे देश के स्तर-स्तर में दिखलाई पड़ती है, कभी भी तुम्हारी दृष्टि उस ओर गयी है?—कभी न गयी होगी, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। सदैव ही तुमने प्रेम के तराने गाये. सदैव ही तुमने सावन के हिडोले पर गीत गाए, तुम उन ग़रीबों, अभागों की मनोव्यथा को क्या जान सकोगी? कल्पना भी नहीं कर सकोगी कि आज मजदूर भूख से परेशान होकर किस प्रकार तड़प-तड़फ

कर मरता है ! उन लावारिस लाशों की कल्पना करो, जिन्हें···! कभी भी तुमने उन—हाहाकार और चीत्कार—के बोझ से झुक रहे, रो रहे, रो-रो कर अलक्षित जीवन-यात्रा को अविश्रान्त पार कर रहे—अभागे देशवासियों की ओर भी ध्यान दिया है ? तुम कहोगी—'वे और उनका काम जाने। पर तुम क्यों न जानो ? उन्हीं के बल पर आनन्द कर रही हो तुम ? उन्हीं का खा रही हो !—वह देखो उधर, उन्हीं की चिंता का धुआँ मिल की इन ऊंची-ऊंची वैभवशाली चिमनियों से धू-धू कर, चौबीस घण्टे बराबर निकलता रहता है। आज उसी धुंएं ने देश को ढक लिया है। वही काला-काला धुआँ चारों ओर छाकर रह गया है आज देश भूखा है, मज़दूर रोता है, ललनाओं—भारतीय वीरांगनाओं के लाल सूख गए हैं। माताओं के स्तन दुग्धहीन हैं। यही आशान्ति ले डूबेगी दुनिया को !

'अनबूझ लड़की'—यही संज्ञा हरी ने कुन्ती को दी है।—हाँ, वहाँ, वह खड़ी यह सब देख रही है—अन्धकार, इधर-उधर और चारों ओर ! पलकें भींग गई हैं। हाहाकार कर उठा है उसका कोमल हृदय ! स्वप्न-सा सब कुछ हो गया। बहुत संभाल कर रक्खा था उसने हरी को, जैसे कोई उसे छू भी नहीं सकेगा। और आज, इस क्षण, जी में आता है—'पिस्तौल का निशाना कभी ग़लत नहीं होता।'

× × ×

वह चित्र—जो कुछ समय पहले कुन्ती के अन्दर खो गया था, ढूंढ़ने पर भी न मिल सका था, आज अकस्मात सामने आ, झूम-सा गया। बोला—'लो, मैं आ गया कुन्ती !' और तब वह घण्टों उस पर मनन-विचार करती रही।

ताजमहल कला की बोलती सजीव प्रतिमा। दो अमर-प्रेमियों का शान्तिनिकेतन ! उसी को गुदगुदाती, किलोलें भरती श्यामल यमुना। खूब सुन्दर, विमोहक 'ताज' की मीनारें। आगरे का बहुत कुछ यहाँ से

दिखता है। सामने बहुत दूर तक जलाशय, फव्वारों की कतार—बुन्दजाल बुनती-सी। दोनों ओर हरे-हरे मोरपंख के पौदे मानों सजग प्रहरी से खड़े हैं। कुण्डों के साफ, स्वच्छ जल में रङ्ग-बिरंगी मछलियाँ खूब क्रीड़ा करती हैं।

सूर्यास्त। अरुण आभा कालिमा में बदल रही है। शून्य अम्बर में उड़ते हुए पक्षी अपने बच्चों को गले से लगा लेने के लिए आतुर भाव से घोंसलों की ओर दौड़े आ रहे हैं। काले-काले बादलों की कतारें पश्चिम की ओर एकत्र हो रही हैं। कुछ शीत भी है।

बाहर, सदर फाटक पर, मोटर तांगों की भीड़। कुछ कला-प्रेमी 'ताज' का चित्र ले रहे हैं। कुछ आकाश को चूमती मीनारों से आगरे का लुभावना दृश्य देखने में खोए हुए हैं। कुछ मुग़ल-कालीन वैभव की गुण-गाथा गा रहे हैं और हरी धीरे-धीरे इन्हीं कुण्डों के निकट मछलियाँ और फव्वारों को देखता हुआ सा आगे को बढ़ रहा है। इधर प्रायः चार दिनों से वह अस्वस्थ है। आज कुछ तबीयत हलकी हुई कि जी उस कमरे में बैठने से उकता गया। चला आया इधर! कुन्ती साथ है उसके। हरी को रोक कर बोली—'देखो मैं तुम्हें एक तमाशा दिखाती हूँ।' और उसने अपनी जेब से कोई पदार्थ जल में छोड़ दिया। मछलियाँ उछलती, कूदती उसे खाने लगीं। हरी अपने मन में कुछ मुस्कराया, गुनगुनाया। सीमित रह बोला—'खूब पहचानती हैं ये सब तुम्हें! आखिर, दाता को पहचानता कौन नहीं? याचक लोग ढूंढ़ ही लेते हैं उसे। कहीं भी, क्यों न, छिपकर बैठे वह!'

कुन्ती सोचने लगी—माना हरी षडयन्त्रकारी है, पर इसका अन्तर कितना कोमल है? जीवन के प्रत्येक अंग पर समझ-समझ कर चलता है!

और हरी?

कुन्ती के अन्दर वह पैठ परखने लगा। वह आखिर उसकी यह बात

'दाना को पहचानता कौन नहीं'—कैसी लगी उसे ? जानता है—कुछ बुरा माननेवाली नारी नहीं है कुन्ती। सब कुछ ग्रहण कर पी लेती है गम्भीर है।

और तब कुन्ती कुछ हँस दी। बोली—'आदान-प्रदान ही जीवन की गति है। उसी में सुख है। पर जिन्हें केवल ग्रहण करना ही स्वीकार है, अनुग्रहण नहीं कर सकते, उन्हें मैं मनुष्य नहीं समझती।' अनुभव किया कुन्ती ने हरी के अन्तराल में हल्की लज्जा की झलक दीप्त हो गई है।

चोरी से रह रहा है वह यहाँ। सरकार जान ले, फाँसी पर चढ़ा दे। बाहर भय दूर कर टहलने जाता है, कुन्ती साथ हो लेती है, जैसे वह उसे प्रकट होने नहीं देगी। छिपाकर इसी प्रकार अपने में रख छोड़ेगी। कोई भी उसे छू नहीं सकेगा। माना वह भयानक है, खतरनाक—पर दुनिया के शोषक-वर्ग के लिए। षड़यन्त्रकारी वह है, पीड़ित मानवता का प्रतिनिधि ! दलितनिधि ! दलितवर्ग के प्रति सहानुभूति है उसमें। तब कैसे भयानक हुआ वह ? मां-बाप, भाई-बहन सबसे अधिक प्यार करती हैं वह इस नवयुवक हरी को !

और हरी के दिल में आता है, यह नारी, यह 'अनबूझ लड़की' क्या है ? भयङ्कर जल-राशि की ओर किस वेग से बढ़ रही है। अग्नि-स्फुल्लिंगों से खेलना जैसे इसकी गति हो।

× × ×

किसी अधिकारी साहब के घर बम फेंक कर आया था हरी। चारों ओर तहलका मच गया था। देश के कोने-कोने छान डाले गये। अखबारों के पन्ने सनसनीखेज समाचारों से भर दिये गये। पिता ने घर से खेद बाहर किया, दुतकारते हुये। बादशाह से बगावत करनेवाले बेटे को, घर में रखकर, अपनी जान-जोखिम में डालना पसन्द न था। सम्बन्धियों के यहाँ भटका। अन्धेरा हाथ लगा। आश्रय-हीन भिखारी-सा

मारा-मारा फिरा। कई रातें भूखों काट दीं। एक अजीब उलझन, एक भारी बोझ।

जंगलों में भटका। खूब घनी अंधेरी रात और ऊबड़-खाबड़ जंगल। बड़ा भयानक दृश्य था। ठंडक थी उस दिन और झमाझम पानी गिर रहा था। हहर-हहर कर आंधी चल रही थी। वृक्ष हिल डुल जाते। सैकड़ों जंगल के पक्षी, जानवर मरे मिले थे। हरी उस दिन उसी जंगल के पहाड़ की चोटी पर पड़ा रहा। खाने-पीने को पास न था, कपड़े भींग गये। शरीर काँप रहा था।

और फिर आगरे आया। पहले कुन्ती चौंकी थी। देखा था—लाल-लाल आँखें, बाल मुख पर छाए थे! विद्रोही पूरा बना था हरी। परन्तु कुन्ती ने उसे पहचान लिया। माता-पिता से लड़ी। बोली—'इसे तुम आश्रय न दोगे तो देगा कौन ?' सबने ठुकराया, उसने अपनाया। तभी से वह कुन्ती हरी के लिए 'अनबूझ लड़की' है।

'तुम्हीं ने बमकाण्ड···?'

उसी के मुख की ओर ताकता रहा। जी में आया—क्यों छिपाया जाय भेद इससे ? बोला—'हां'

सिहर उठी वह; नारी-हृदय कांप गया। हरी और बमकाण्ड ! उसका मुख मलीन हो गया !

घर के नीचे की सड़क पर, घोड़ों की टापों से कुन्ती भयभीत हो उठी थी। परेशानी बढ़ गई थी। जी में आया—हो न हो, रात्रि की इस शून्य, अखण्ड बेला में पुलिस-विभाग के गुप्त कर्मचारियों ने हरी का पता पा लिया हो। घर में सभी गहरी नींद सोए थे। वह कुछ सोचती रही। भय, आशंका···। कमरे में आयी। 'हरी-हरी, उसने उसके शरीर को हिलाकर कहा। वह उठ बैठा। तबीयत उसकी ठीक न थी। पूछा—'क्या है ?'

'लगता है····'

'बोल न हिचक कैसी ?'

'पुलिस…'

'गलत बात है यह।' कह वह उठा। चारों ओर झाँक देखा कुछ भी न था। तब पुलिस ?'

'शायद मुझे…'

'तू इतनी डरपोक है। काम क्या करेगी ? जिन्दगी खतरा है इससे डरना गलत है।'

'अच्छा कल लेक्चर सुन लूँगी। तबीयत ठीक नहीं है…सो जाओ।'

हरी सो गया था। सुबह उठा तो चाय भी न पी पाया कि मुकुन्दी उसके निकट सबक पढ़ने को आ गया। हरी बोला—'फ़ीस लेता नहीं, चाय तो पी लेने दे।'

और इस बात को कुन्ती ने सुन लिया था। अपने में कुछ सोचकर रह गयी थी।

हरी का 'मूड' ठीक न था। पाठ पढ़ाते वह खीझ भी उठता था।

'पाँच और दो…!' हरी मुकुन्दी से प्रश्न करता।

'छः' बिना सोचे-समझे वह कह देता।

'छः कैस हुये ? फिर गिन ?' फिर कुछ रुककर बोला—'उसी का छोटा भाई तो है तू !'

'सात' मुकन्दी बोला।

'अब ठीक इसी तरह सोचकर बताया करो।'

कुन्ती ने सब कुछ सुन लिया था। वह भी अपना हक़ क्यों छोड़े, 'भाई को बिगाड़ न देना' बोली।

'अपनी परवाह रक्खो' हरी कुछ हँस दिया।

मुकुन्दी-जैसा खिलाड़ी लड़का ऐसे सुन्दर अवसर को अपने हाथ से कब खोने लगा। देखा—जीजी ने हरी का ध्यान बातों में बाँट लिया है। वह पढ़ना छोड़ वहाँ से निकल भागा। 'मूड' हरी का ठीक न था।

कुन्ती बातों की झड़ी लगाये थी। विराम लगाती ही न थी। बोलना ही बोलना था उसके निकट। और हरी था अस्थिर, उखड़ा-उखड़ा-सा, मौन! घण्टेभर में कई कप चाय के खाली कर दिये। न जाने कितने कश लिए—सिगरेट का आधे-से-अधिक डिब्बा खाली कर दिया था। बहुत-सी माचिस की सींके उसके आस-पास बिखरी पड़ी थीं। कुन्ती डिब्बे की ओर देख बोली—'ओ, सब पी डालीं?'

'यह जानकर, दाता उदार है ग़रीबों की ओर··· । कभी उनकी सेवा से उबता नहीं।'

कुन्ती का मुख किंचत् लाल हो उठा। बोली—'परन्तु अभी तो जिन्दगी का बहुत लम्बा हिस्सा तय करने को पड़ा है।'

'तो?'

'संभाल कर चलना चाहिए।'

'मेरे दाता का दान-कोष रिक्त होने वालानहीं; ज्यों-ज्यों खरच किया जायगा उससे, त्यों-त्यों वह बढ़ेगा।'

'क्या हुआ है तुम्हें?'

'प्रमाद नहीं है कुन्ती? ठीक कह रहा हूँ। अपनी जान हथेली पर लिए घूमता हूँ और अभी तुमने ज़िन्दगी को समझा ही कहाँ है? कोमलता तुमसे लिपटी है। तुम क्रांति को बुरा कहती हो, तुम्हारा ऐसा ही मानना है। कल रात को खटपट सुन तुमने कहा था। पर, क्रांति ही जीवन है। इसमें देश की बेकारी, पराधीनता, बरबसता, पीड़ित मानवता की करुण चीत्कार सब कुछ स्वाहा हो जायगा। तब मनुष्य एक दूसरे को समझेंगे। ईर्ष्या द्वेष की भावना नष्ट हो जायेगी छोटा-बड़ा न रहेगा कोई! यहाँ वास्तविक प्रेम की पवित्र नदी बहेगी। सभी उसमें नहायेंगे, गौरव का अनुभव करेंगे। मैं उसी युग का स्वप्न देख रहा हूँ।

हरी बीमार था—अस्वस्थ। इतना कह रुक गया। लगा—उसका हृदय बैठने-सा लगा है। कुन्ती पानी ले आई। दो घूंट पी गया तब जी को

शान्ति मिली। कोमल नारी अपने को रोक न सकी कह दिया—'यह जिन्दगी छोड़ दो !'

'पागल !—इतना भय तुम्हें शोभा नहीं देता ! नारियों की प्रेरणा से ही पुरुष आगे बढ़े हैं। एक ओर जहाँ वे देवी हैं, दूसरी ओर वहाँ वे दानवी भी, रणचामुण्डा दुर्गा भी…।'

'परन्तु फिर भी यदि जीवन के घने अँधेरे निर्जन पथ में बहुत से दुश्मन…'

'पिस्तौल का निशाना कभी ग़लत नहीं होता।'—लापरवाही से पैंट की पाकेट से काला, भयानक रिवाल्वर निकाल, हँस दिया।

पिस्तौल, क्रान्ति, जिन्दगी…वह उठी डोल उठी। फिर कुछ सोच बगल की टेबिल पर रक्खी मात्रा लगी दवा की शीशी आगे बढ़ा दी। एक खुराक थी, पी गया। मुँह बिचका बोला—'दवा भी आदमी को मरने से बचा सकती है, जीने से रोक सकती है ?'

वह गुनगुना कर अपने में रह गयी। निरी भावुकता….बाली तैयार थी। डिश में चम्मच रख आगे कर दिया।

और तब रात को झपकी लग रही थी। सीटी की आवाज आई। कुछ परिचित-सी लगी। वह चौंका। गिरोह के कई व्यक्ति भगे हुए थे। कौन आ पहुँचा ? नीचे झाँक देखा—जोशी था। नीचे गया —'पता बड़ी मुश्किल से लगा। सब कल पूछना। तीन सौ रुपये चाहिए। अमर गिरफ्तार हो गया है।'

और ऊपर आ उसने कुन्ती से कहा था। पहले वह बहुत झिझकी और डरी थी। बोला वह—'ज्यादा समय नहीं है। जोशी नीचे ख़तरे में खड़ा है।'

सोने का हार ट्रंक से उसने ला दिया। कुछ भी हरी को नहीं लगा। केवल बात इतनी-सी जी में आई थी—इसमें मेरा-ही-मेरा सब स्वार्थ नहीं है। देश का काम है।

दूसरे दिन उसने कुन्ती का चेहरा खुश पाया 'उसने देश के लिए कुछ करने की भावना अपने आप में रख छोड़ी है' वह सोच रहा था। उसे अपने निकट बुलाया। 'कहा बैठ जाओ' और जब वह बैठ गई, तब हरी ने आत्मीयतापूर्वक कहा—'कुन्ती, कई दिनों से मैं तुम्हारी बात का उत्तर सोच-सोचकर रह जाता हूँ। चाहता था, कह डालूं, पर मौका हाथ न लगा। लो, सुनो। मैं अपनी यह जिन्दगी क्यों नहीं छोड़ता, कई बार तुमने अपनी राय जाहिर की है। पर, केवल एक बात है। जहाँ हम रोटी का एक टुकड़ा न पा सकें, दूध-घी हमसे छीन लिया जाय, पेड़ के मामूली फल बिना पैसे के हमारे लिये आकाश-कुसुम हों, वहां विद्रोह का जन्म जरूर ही होगा। हम अपने छोटे भाई की लाश पर खुल कर दो बूंद आँसू नहीं गिरा सकते उसका, विधिपूर्वक संस्कार भी नहीं कर सकते...यह भी न्याय है? क्यों न रक्त खौल उठे मेरा, क्यो न मैं विद्रोही बन बैठूं......!

'मेरे बहुत से दोस्त इस दुनिया के अधूरे स्वप्न लेकर......मैं पूरा करना चाहता हूँ। बैकुण्ठ से वे देखेंगे, प्रसन्न होंगे।'

कुन्ती का चेहरा उतर गया। चौंक कर वह रह गई।

मुँह में भरे धुँ को नाक से आसमान की ओर फेंक दिया। हृदय-रोग से पीड़ित था। थकान महसूस कर लेट गया—लेटा ही रहा।

कुन्ती उद्विग्न हो बोली—डाक्टर को बुला लूं?

'छिः-छिः, मैं और डाक्टर......? नहीं रहने दे तू।'

'पागलपन है सब, सब!'

'मेरे अन्दर वह आग जल रही है, जो कभी किसी क्षण भी बुझ नहीं सकती। मैं इसलिये जीवित हूँ, मुझे कुछ करना है। मैं पीछे हटने वाला नहीं। पीछे हटना तो दूर, पीछे की ओर देखना भी पसन्द नहीं करता।

जो कुछ पीछे छूट गया है, भूल जाना चाहूँगा उसे, आगे के लिये सतर्क...... ।'

दूसरे दिन पत्रों में जोशी के गिरफ्तार हो जाने की सूचना छपी थी। कुछ पत्र भी उसकी पाकेट में मिले थे।

उसी रात को—

खूब घनी—घनी अन्धेरी रात! चारों ओर सांय-सांय! ऊपर, आसमान पर बादलों के ढेर—काले-काले और सजग।

ठाँय, पहली फायर।

ठांय-ठांय, दूसरी फ़ायर।

ठांय-ठांय-ठांय, तीसरी फ़ायर।

तीन लाशें! हरी चुपचाप बाहर निकल अन्धकार में मिल गया। दरवाजे की ओट में कुन्ती खड़ी देख रही थी। पिस्तौल की आवाज़ दूर तक फैल-फैलकर जैसे कहती लगी हो——'पिस्तौल का निशाना कभी ग़लत नहीं होता।

पुलिस ने घर को घेर लिया था।



: १४ :

उत्सुकता

'ओह ! मित्र मैं आपके कवित्व का लोहा मानता हूँ। आप इतनी सुन्दर कविता लिख सकेंगे, ऐसा मैंने इसके पूर्व कभी नहीं सोचा था ! मैं मुग्ध हो गया।' बद्रीप्रसाद ने अपने कवि मित्र अनिल से कहा।

'अच्छा, बहुत पसन्द आई ! कौन-सी कविता ? कहाँ पढ़ी आपने ?' अनिल ने पूछा।

'सब बता दूँगा। पहले इस खुशखबरी को सुनाने पर चाय इत्यादि की व्यवस्था कीजिए !'

अनिल फूल कर गद्गद हो गया। उसकी आशा आज सफलता का रूप पा रही है। उसके यश का दिनोंदिन विस्तार हो रहा है। यदि वह इसी प्रकार जुटा रहेगा; साहित्य-देवता की आराधना में तल्लीन रहेगा, तो निश्चय ही एक दिन रवीन्द्रनाथ टैगोर की तरह छाकर रहेगा। उस पर विद्वान् समीक्षक लेख लिखेंगे और प्रत्येक दैनिक, साप्ताहिक में उसके चित्र प्रकाशित होंगे। चित्र के नीचे लिखा जायगा, युगप्रवर्तक महाकवि अनिल !

अनिल के मानस-चक्षुओं में अपने सम्बन्ध में बनाए गए स्वप्न नृत्य करने लगे। वह भावनाओं के प्रवाह में बह चला। अभी-अभी उसके मित्र बद्रीप्रसाद ने उसे समाचार दिया है, उसकी कविता किसी प्रतिष्ठित पत्र के दीपावली अंक में उसके भव्य चित्र के साथ प्रकाशित हुई है।

ये दोनों मित्र एक सरकारी दफ्तर में कार्य करते हैं और दोनों साथ

ही आते-जाते हैं। बद्रीप्रसाद कभी उसकी कविता की प्रशंसा के पुल बाँध देता है और कभी उसकी भर्त्सना भी करता है। अनिल का विश्वास है, कवि के पास एक कठोर समीक्षक भी चाहिए, जो उसे उसकी प्रेरणा को, उसके कवित्व को तीव्र आलोचनात्मक व्यंग्यबाणों द्वारा जाग्रत भी करता रहे, श्रेष्ठ सृष्टि करने की ओर सतत प्रयत्नशील रहे और भावनाओं को उन्मुख करता रहे।

मित्र खुशी की खबर लेकर आया था, किसी दूसरे विभाग से। इसीलिए चाय, टोस्ट, मक्खन, पान और सिगरेट की कवि अनिल ने व्यवस्था की। ट्रे सामने लग गई।

बादामी रंग की चाय का एक घूंट गले के नीचे उतारते ही अनिल ने कहा, 'भाई बद्रीप्रसाद, चाय आपको मिल गयी। अब मित्र बतला दो किस पत्र में मेरी रचना छपी है!"

'अरे भाई चित्र के साथ किस पत्र में आपने रचना भेजी थी?"

अनिल कुछ संकोच में पड़कर बोला, 'इस बीच दीपावली विशेषांकों के लिए लगभग १ दर्जन कविताएँ मैंने लिखी थीं और सब एक से एक बढ़कर। एक दर्जन चित्र भी बनवाए थे। लगभग ४०) चित्रों में लगे। सभी रचनाएं सचित्र गईं थीं। परन्तु हिन्दी में प्रतिभा का स्वागत नहीं होता। नए लेखक और कवियों की चीजें, भले ही वे कितनी सुन्दर क्यों न हों, बहुतेरे सम्पादक पढ़ने का कष्ट ही नहीं करते। इसलिए किसी भी पत्र के विशेषांक में मेरी रचना नहीं छपी। बस, इसी एक पत्र में जिसमें आप बतला रहे हैं।

चाय की चुस्की लेकर और सिगरेट का धुँआँ कभी नाक और कभी मुंह से निकालते हुए बद्रीप्रसाद ने कहा, 'अनिल जी, कविता संघर्षों में ही पनपती है। मुख्य उद्गम तो कसक है, टीस है। कहा गया है, 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान, और इतना ही नहीं, आदि-

कवि महर्षि वाल्मीकि को भी क्रौंच पक्षी की वेदना ने ही महाकाव्य लिख डालने की प्रेरणा दी। असफलताएं ही सफलता की सीढ़ियाँ हैं।'

'खैर, अब मैं अधीर हो रहा हूँ। आपको चाय भी मिल गयी। आपका स्वागत भी हो चुका। पान भी खा लिये। अब आप उस पत्र का नाम बतलाइए —और हाँ, यह भी कि आपने अंक कहाँ देखा।'

'दिल्ली का कोई सिनेमा-पत्र है, भला-सा नाम है। उसी के दीपावली अंक में। स्टेशन के व्हीलर स्टॉल में प्रति मिल सकती है।'

'ओ, ठीक! बहुत अच्छे! मैं अब समझा। हाँ, अमुक पत्र में मैंने सम्पादक जी के विशेष आग्रह पर सचित्र कविता भेजी थी। उस कविता को सुनकर हिन्दी के प्रमुख कवि अमुक जी ने आश्चर्य प्रकट किया था और कहा था, हिन्दी में दीपावली के अवसर पर शायद ही इस टक्कर की कोई रचना प्रकाशित हो। यदि उसका सम्मान हुआ है, तो मैं कहूँगा, कि हिन्दी के सम्पादकों ने निर्णय करने के सिद्धान्त में परिवर्तन किया है।'

'बढ़ो, बढ़ो, कवि! मैं आपको काव्य की चोटी पर देखना चाहता हूँ।' बद्रीप्रसाद ने अनिल से कहा।

अनिल बोला—'कृपा चाहिए। अब मैं उस दिन की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता हूँ, जब काव्य में मेरा युग स्थापित होगा और मेरी अपनी अलग विचारधारा होगी।'

'निश्चय आपका युग होगा और आपकी विचारधारा होगी। भगवान् वह दिन शीघ्र लाये। अच्छा अब आज्ञा दीजिए, चलूँ। काफी तो बैठ चुका।' कहकर बद्रीप्रसाद चल पड़े।

कवि जी के लिये यह बीस आने का नुस्खा था। इसी बीच अनिल ने आवाज दी—'बद्रीप्रसाद जी, अरे सुनो जी, इस समाचार को क्या आपने कलाकार प्रकाश जी को सुनाया है?'

'नहीं भाई, आप सुना दीजिए। यहीं से टेलीफोन कर दीजिए।'

'जरूर, अभी टेलीफोन करता हूँ। उन्होंने भविष्यवाणी की थी, यह कविता दो कौड़ी की है।'

'आप अपना काम करते चलिए, दुनिया को बकने दीजिए। मौखिक आलोचनाओं से कवि कब घबड़ाते हैं?'

कलाकार प्रकाश जी भी इसी सरकारी दफ्तर के अन्य विभाग में काम करते हैं। वे श्रेष्ठ साहित्यिक हैं और जिस किसी व्यक्ति में तनिक भी लेखन की प्रतिभा देखी, उसे सदैव आगे बढ़ाने में सहायता देते हैं। कलाकार प्रकाश, कवि अनिल और बद्रीप्रसाद—इन तीन मित्रों का एक अच्छा गुट है, जो अक्सर एक दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना करते हैं और पारस्परिक सहयोग की सत्य भावना रखते हैं। इतना ही नहीं, आपस में खूब हँसी-मजाक भी कर बैठते हैं।

टि नि नि…टिन…टिन…।

टेलीफोन की घंटी बजी।

टेबिल पर बैठा कलाकार प्रकाश भुनभुना उठा। वह टेलीफोन से ऊब गया है। जब देखिये, तब उसकी विचारधारा भंग की जाती है और शांतिपूर्ण 'मूड' खराब कर दिया जाता है। उसके चेहरे पर परेशानी के चिह्न स्पष्ट मर्तित हो उठे। विरागभाव से, खीझकर उसने 'रिसीवर' उठाया—'हेलो! प्रकाश हियर' (कहिए, प्रकाश बोल रहे हैं)

'ओह, गुड! जयहिंद कलाकार जी! कहिए, अच्छे हैं?'

'ओ! योर लार्डशिप स्पीकिंग। आज्ञा कीजिए कविजी!'

'कोई नवीन समाचार?'

'आप सुनाइए!'

'बड़ी अच्छी खबर है, कुछ खिलाइए-पिलाइए। आज रेस्टोराँ में आपकी ओर से दावत रही। अब तो आपके बड़े ठाट हैं। चारों ओर रंग है आपका। कुछ ही दिनों में आप हिन्दी-साहित्य में छाकर रह जायंगे। आपकी लोकप्रियता इधर खूब बढ़ी है।'

'क्यों कुछ कहिए भी तो। आप तो यह सब क्या कह रहे हैं?'

'अरे भाई आपकी दोनों कविताएं सचित्र आगई हैं, दीपावली अंक में बधाई!'

'कहिए चित्र कैसा आया है? ब्लाक ठीक छपा है? चित्र को देखकर छायावादी कवि जंचता हूँ या नहीं? कोई यह नहीं कह सकता, यह लड़की है या…?

'सत्य है भाई, आप बड़े भाग्यशाली हैं। लेकिन भाई, आज आपको दावत देनी पड़ेगी। आज तो आप बादशाह बन गए। इस खुशी के उपलक्ष्य में…'

'जरूर भाई, जरूर! आप देखेंगे जब मेरी धाक हिन्दी में जमेगी। साहित्य-रत्न को सरकार एम० ए० के बराबर की डिग्री स्वीकार करने जा रही है। आप यों ही सड़ते रहेंगे। कह रहा हूँ, अब भी समय है, कोई बढ़िया उपन्यास पटको, वरना खत्म होने की…।'

'स्वीकार करता हूँ, परन्तु दावत से बचते क्यों हैं?'

'स्वीकार, खा लेना। लेकिन मित्र आज तो पैसे पास नहीं हैं।'

'क्यों, वेतन नहीं मिला?'

'कल मिलेगा।'

'फिर?'

'अच्छा दो रुपये किसी से उधार लूंगा। हाँ, एक बात बतलाइए।'

'पूछिए।'

'विशेषांक का मूल्य क्या है?'

'केवल बारह आने?'

'कविताएं अच्छे स्थान पर छपी हैं?'

'दूसरे पृष्ठ पर और दोनों कविताओं के बीच पूरे पृष्ठ में बार्डर देकर प्रकाशित किया गया है।

'तब तो मित्र इस बार बड़ा रंग रहा। अगर हिन्दी-संसार में गुटबन्दी समाप्त हो जाय, तो हम लोग भी आगे बढ़ सकें।'

'प्रतिभाशाली कवि को आगे बढ़ने से कौन रोक सकता है। तुलसीदास, मीरा, सूर क्या इस प्रचार के युग में आज भी जनता में नहीं गूंजते ? उन्हें कोई…?'

'ठीक कहते हैं आप ! अच्छा, तो आज दफ्तर से साथ चलेंगे। आप मेरे आफिस आ जाइएगा।'

प्रकाश को आज ज्यादा देर तक ठहरना था। उसके पास आज कुछ विशेष आवश्यक पत्र निकालने थे। बोला—'भाई आज ६ बजे तक ठहरना पड़ेगा। काम बहुत पड़ा है।'

'चलिए भी, कल देखा जायगा।'

'नहीं कर्त्तव्य के निर्वाह के प्रति कलाकार अन्धा नहीं हो सकता।'

'अच्छे, बहुत अच्छे ! अच्छा मैं आपके पास चार बजे आ जाऊंगा और काम समाप्त करके आप मेरे साथ चल दें। कम से कम मेरी कीर्ति को तो अपनी आँखों देख लीजिए।'

'जिन्दाबाद, कवि जिन्दाबाद !'

चार बजे—

कवि अनिल साइकिल पर सवार हो कलाकार प्रकाश के दफ्तर आ गया। प्रकाश अपने काम में व्यस्त था। उसकी दशा देखने योग्य थी। लगभग ६ बजे दोनों साथ चल पड़े।

रास्ते में अनिल ने कहा—'हमारे समकालीन कवि अमुकजी इस कीर्ति को देखकर जरूर जल उठेंगे। इस खुशी ने आज मेरा बड़ा समय ले लिया। ६ बजे दफ्तर से चल रहा हूँ।'

'साहित्य-स्रष्टा को यह सब नहीं सोचना चाहिए। ये मामूली चीजें हैं। उसका जीवन ही प्रयोग है।'

रेस्टोराँ आ गया। दोनों अन्दर गए। कवि अनिल किसी से दो रुपए उधार लाए थे। नहीं, किसी मित्र ने उन्हें ५०) का मनीआर्डर लगाने को दिया था, किन्तु, संयोगवश वे नहीं कर सके थे। सोचा—दो रुपए दूसरे की ही रकम से खर्च कर दूंगा। कल वेतन मिलेगा, पूरा कर दूंगा।

'दावत और दो रुपए!' प्रकाश ने हंसकर कहा—'अरे जाने भी दीजिए।'

'अच्छी बात है, खा लीजिए, जो इच्छा हो। आप भी क्या कहेंगे? आज मैं भी......'

दोनों ने जमकर चाय, मिष्ठान्न उड़ाए। आठ रुपए का बिल चुकाकर अनिल ने कहा—'आप संतुष्ट हैं?'

'आप भी संतुष्ट हों, मजा तो तब?'

'भाई, मैं तो संतुष्ट ही हूँ। कविता आ गयी, बस और चाहिए ही क्या?'

दोनों तेजी से स्टेशन की ओर चले। अनिल तीर की तरह तेजी से बढ़ रहा था।

गेटकीपर से अन्दर जाने की आज्ञा मांगी उसने, उत्तर दिया—'आपकी राष्ट्रीय सरकार है। इस सरकार की हानि आपकी हानि है। प्लेटफार्म टिकट ले लीजिए।'

चार आने के दो प्लेटफार्म टिकट अनिल जी ने लपक कर ले लिए और गेटकीपर को गाली देने के बजाय धन्यवाद दिया। कहा—'यदि ऐसे ही व्यक्ति रेलवे-विभाग में तथा अन्य विभागों में...'

'सही कहते हैं आप।'

प्लेटफ़ार्म टिकट लेकर दोनों अन्दर गए और बाज की तरह कवि जी विशेषांक के ढेर पर कूद पड़े। उन्होंने बड़े मनोयोग से सम्पूर्ण

विशेषांक के एक-एक पृष्ठ को उलट डाला, किन्तु उन्हें अपने शुभनाम के दर्शन नहीं हुए ।

नियति का दुर्भाग्य । उन्होंने विशेषांक पहले ही खरीद लिया था । उन्हें लगा, पैसे पानी में गए, क्योंकि उनकी रचना नहीं थी ।

प्रकाश अलग, कुछ दूर पर, खड़ा था । बोला—'क्यों भाई ! रंग रहा न ?'

कवि जी के चेहरे पर पसीने की बूंदें आ गयी थीं और वह डूबते उतराते जान पड़ते थे । बोले–'आपने मेरा यदि गला घोट दिया होता, तो इतना न खलता, परन्तु आज तो आपने....?'

कलाकार प्रकाश प्लेटफार्म पर ठहाका मार कर हंस पड़ा ! बोला —'यही साहित्य-सेवा का पुरस्कार है । जीवन की ठोकरें ही हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा देती हैं ।"

'अरे जाइए भी ! बेवकूफ बनाया आप लोगों ने मुझे ! अब मैं सारे षड्यंत्र को समझ गया । सुबह बद्रीप्रसाद का आना और चाय की दावत लेना...'

प्रकाश ने कहा—'भाई कल गिरीश जी ने मुझे सूचित किया था, कि—'

'कुछ नहीं, कुछ नहीं ! आपका सत्संग ही बुरा है ।'

प्रकाश फिर ठहाका लगाकर हँस पड़ा ।

कवि ने कहा—'बेशर्मी की हंसी !'

'ऐसा क्यों ?'

'आज घर में आटा न था, पिसाना था । रात कर दी । अब आज क्या खाएंगे ? पत्नी उधर नाराज होगी । बेकार में पैसे रुपए गए । कहीं पढ़े-लिखे लोग ऐसा भी व्यवहार करते हैं ?'

प्रकाश फिर ठहाका मार कर हंस पड़ा और दोनों अपने-अपने घर चल पड़े।

प्रकाश घर आया तो देखा बद्रीप्रसाद उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्रकाश ने कहा—'क्यों कैसा रहा?'

'बस, आज जमकर रह गयी। मूँजी बहुत दिनों बाद फँसा।'

दोनों ठहाका मारकर हँस पड़े!

